मध्य देशीय भाषा

समर्पण

उत्कलित उक्ति पहली जल्पित शिक्षित, जिसकी
वसुधरा-विशद वत्सला गोद में संगोपन
पाते, मंजुल प्रांजल अर्थक्षम शब्द-शक्ति-
उच्छलित मध्यदेशीय गिरा युग-युग-बोधन,

तोमर - बुँदेल—सेवित—मृणालिनी - विशङ्—तीर
जिसने देखी चंडांशु-बिम्ब की प्रथम किरण;
पावन त्रिवेदिकुल-रक्त धमनियों में जिसकी,
ब्रह्मास्त्र-दीप्त, बेरछा-शस्त, श्रुति-स्मृति-रक्षण;

मन्दार-मेरु-आत्माभिमान, जलनिधि-अगाध
वह ज्ञान-दम्भ, परिनमित बुंदेला औ' पमार
राजन्य-श्रेष्ठ के शिक्षागुरु मंत्रद द्विवेदि-
कुल मे परिणीता, यज्ञ-अग्नि-सन्निभ उदार,

उद्यत वह विंशतितम शताब्दि मे प्रथम बार—
मधुमती—सिन्धु—पारा—लवणा—जल-संसेचित
बुन्देला — भार्गव — पमार — आभीर—सुसेवित
पावन भूमि करे निज जन-प्रतिनिधि निर्वाचित,

पदमर्दित क्षितीन्द्र के वरद हस्त का पोषित,
क्षिप्त कृतक पाखंड लोकसेवा का खंडित,
इस बुन्देलखंड के हृत्तल की जनवाणी
दिङ्-नभ मे जिसके जयघोष तुमुल से मंडित,

द्युति-किरणो का विभ्राजित अभ्रंकष कि कूट—
मस्तक विशाल, अ-नमन-परम्परा अविशृंखल,
स्मर-पुर-भव-मख-गज-तम-अंतक-वध कालकूट-
संवरण श्रान्त शितिकंठ चरण मे नत केवल,

भार्गव-परशुराम-धारित तैजस प्रचंड-प्रभ
गरिमा, भारत की सांस्कृतिक ज्योति को दीपित
युग-युग से करती आती, श्रद्धानत जग-मस्तक,
अच्युत प्राप्त प्रकाण्ड मुझे जिससे उत्प्रेरित,

उसी रमाबाई माता दिविगता पुनीता
की कौमुदी-ग्रहीत विशद नित-नूतन
पुण्यस्मृति को श्रद्धा—विह्वल—युग—कर—अर्पित
निरुज-नयन-विद्वन्नंदन यह ग्रन्थ अकिंचन।

दो शब्द

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने 'मध्यदेशीय भाषा' शीर्षक जो पुस्तक लिखी है उसे किसी भूमिका की आवश्यकता नही। पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढना ही इसके साथ न्याय होगा। इसकी स्थापना चौका देने वाली है । मै स्वय इतनी करारी बौद्धिक उथल-पुथल के लिए तैयार न था । लेकिन लेखक ने जो कहा है उसे इतने प्रमाणो से टिकाया है कि मन सोचने के लिए विवश होता है । हिन्दी साहित्य के कितने ही नये क्षेत्र प्रकाश मे आ रहे है । स्थान-स्थान पर अनु-सन्धान करने वाले विद्वानो से साक्षात् बातचीत होती है तो मन प्रसन्नता से भर जाता है कि हमारे इस महत् हिन्दी साहित्य के कितने अधिक क्षेत्रो मे नई सामग्री का प्रकाश क्रमश भरता जा रहा है। देश और काल दोनो मे सामग्री के विस्तार की इयत्ता नही है। पिछले एक सहस्र वर्षो मे जितने भी धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुए सब ने ही साहित्य के रूप मे अपनी छाप छोडी है। उन खोए हुए सूत्रों को पहचानना और स्पष्ट करना ही अनुसन्धान का लक्ष्य है। राजस्थान से बिहार तक और हिमालय से महाकोशल तक हिन्दी का विपुल विस्तृत क्षेत्र है । उसमे अभी न जाने कितनी नई सामग्री प्राप्त होने की आशा है । कितने केन्द्रो से कितने रजवाड़ो मे साहित्य-निर्माण का कार्य हुआ था । उत्तर-दक्षिण, परब-पश्चिम मे फैले हुए इस साहित्य-क्षेत्र मे नये अनुसन्धान का व्रत लेकर कार्य करने वाले हलधर साहित्यिको की आवश्यकता है । श्री हरिहरनिवास जी ने अपनी इस पहली ही साहित्यिक कृति मे कुछ ऐसी मौलिकता प्रदर्शित की है जिसे भविष्य मे साहित्य का इतिहास निर्माण करने वाले विद्वानों को देखना अनिवार्य होगा।

यह कहा जा सकता है कि मध्यदेश नाम की परम्परा को बहुत से नये प्रमाणों से वे लगभग हमारे समय तक ले आए हैं। यह भी विदित होता है कि ग्वालियरी भाषा के सम्बन्ध में जो नई सामग्री यहाँ दी गई है वह भाषा और साहित्य के इतिहास की एक खोई हुई कड़ी प्रस्तुत करती है। उनके प्रतिपादन से यह ज्ञात होता है कि सूर से पूर्वकालीन ब्रजभाषा का सूत्र ग्वालियरी भाषा के हाथ में था, अतएव आगे के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा के साथ ग्वालियरी भाषा की सामग्री को भी अपनाना आवश्यक पाया जायगा। ब्रजभाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की स्थापना को भावी अनुसन्धान से और बल प्राप्त होगा, ऐसी आशा है। सचमुच जिस बात को शुक्ल जी ने अपनी पैनी दृष्टि से पहचान लिया था उसी की पूर्ति द्विवेदी जी के इस प्रयत्न से होती जान पडती है। शुक्लजी ने ग्वालियरी की पूर्व परम्परा से कुछ भी परिचय न रखते हुए केवल सूरसागर के गेय साहित्य के मार्मिक अध्ययन के आधार पर यह अद्भुत बात कही थी—"ध्यान देने की बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा मे सबसे पहली कृति सूरदास की ही मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य मे डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यागपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती है। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालो को उलझन मे डालने वाली होगी।" शुक्ल जी के इस मार्मिक कथन की व्याख्या के रूप मे हरिहरनिवास जी का यह प्रयत्न सर्वथा स्वागत के योग्य है। सूर की सगीत-साधना और गेय काव्य की परम्परा दोनो का ही तथ्यात्मक उत्तर पहली बार हमें यहाँ प्राप्त होता है। मानसिह तोमर के ग्वालियर मे और ग्वालियरी भाषा के पदसाहित्य मे सूर की साहित्यिक साधना के सूत्रो को प्राप्त करके मन ऐसा आश्वस्त होता है मानो इतिहास की खोई हुई कड़ियाँ पहचान मे आ रही है। सूरदास का जन्म स्थान ग्वालियर

मे था, ऐसा अभिमत कुछ प्रमाणो के आधार पर लेखक ने अभिव्यक्त किया है। इस विषय मे योग्य विद्वानो को अधिक अनुसन्धान करने की आवश्यकता है।

गेय पदो के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे एक बात कहना आवश्यक है। अभी हाल मे इस बात की अच्छी चर्चा सुनी गई है कि सूर से पहले ब्रजभाषा मे अथवा अन्यत्र कृष्ण चरित्र के गेय पदो की क्या परम्परा थी। ग्वालियरी भाषा की सामग्री उस पृष्ठभूमि मे स्वागत-पूर्ण उमग के साथ ग्रहण करने योग्य है। किन्तु यह परम्परा और भी प्राचीन होनी चाहिए। भोज के सरस्वतीकठाभरण मे हल्लीसक नाम के मडल नृत्य का उल्लेख है। उसमे एक युवक बालाओ के मध्य मे उसी प्रकार तालबन्ध रास करता था जैसे गोपाल ने गोपागनाओ के मध्य मे किया था —

> मडलेन तु यत्स्त्रीणा नृत्य हल्लीसक तु तत।
> तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणा हरिर्यथा॥ (२।१५६)

उसी नृत्य को गोपाल गूजरी नृत्य या रास भी कहते थे। इन मडली रास नृत्यो के दो रूप थे। एक तालक रास, दूसरा लकुट रास या डाडिया रास। इन दोनो रासों की परम्परा गुजरात, राजस्थान, मध्यदेश, मालवा आदि प्रदेशो के बडे विस्तृत प्रदेश मे फैली हुई थी। वस्तुत प्राचीनता की दृष्टि से न केवल मध्यकाल मे बल्कि गुप्तकाल मे भी इस प्रकार के नृत्यो का अस्तित्व था। उसका सबसे अच्छा प्रमाण मालवा के बाघ स्थान मे बने हुए भित्ति चित्रो मे पाया गया है, मालवा जैसे इस प्रकार के गोपाल गूजरी रास का घर था। वहाँ चित्रो मे इस परम्परा की प्राप्ति हमारे सास्कृतिक इतिहास की स्वाभाविक वस्तुस्थिति की सूचक है। सम्भवत यह परम्परा और भी पीछे ले जाई जा सके। इन मडली रासों के साथ गीत का भी अनिवार्य सम्बन्ध था। प्रश्न यह है कि वे गीत कौन से थे? इस प्रश्न का तत्काल उत्तर सुनिश्चित सामग्री के रूप

ने देना तो कठिन है किन्तु यह सभावना बताई जा सकती है कि वे गीत जो गोपाल गूजरी नृत्य के समय गाए जाते थे, अवश्य ही कृष्ण लीला के गेय पद थे । ऐसे पदो को प्राचीन काल मे 'नारायण गीत' कहा जाता था। गुप्त काल मे भी इस प्रकार के नारायण गीतों का अस्तित्व था, ऐसा अनुमान होता है। चतुर्भाणी के अतर्गत उभयाभिसारिका नामक भाण मे भगवान् नारायण के भवन या मन्दिर मे कामरस से भरे हुए सगीत करने का उल्लेख है। यह नारायण गीत की ही परम्परा हो सकती है जो कि प्रधानत शृ गार रस के गेय पद होते थे। बारहवी शती मे जयदेव ने जिस तरह के राधाकृष्ण के उद्दाम शृ गार पर आश्रित पद सस्कृत मे लिखे उनके सम्बन्ध मे भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या उनकी कोई पूर्व परम्परा न रही होगी। जो प्रश्न शुक्ल जी ने सूरदास के गीतिकाव्य के विषय मे किया है ठीक वैसा ही प्रश्न जयदेव के विषय मे भी पूछना न्याय्य है, और जिस प्रकार ग्वालियरी के पद साहित्य से सूर के गेय साहित्य के पूर्व इतिहास पर प्रकाश की कुछ किरणे प्राप्त होती है वैसे ही जयदेव के विषय मे भी सभावना है । जिस प्रकार की सरस पदावली मे जयदेव के पद है ठीक उसी प्रकार के गेय पद पश्चिमी भारत मे निर्मित मानसोल्लास ग्रथ के तीसरे भाग मे (जो अभी प्रकाशन सापेक्ष है) पाए गए है। इससे यह तो निश्चित होता है कि कृष्ण सन्बन्धी गेय पदो की परम्परा बगाल से महाराष्ट्र तक फैली हुई थी। अवश्य ही भोजदेव के मालवा मे भी वह परम्परा विद्यमान थी । प्रश्न यह है कि जयदेव ने जो रचना सस्कृत मे की है उसकी परम्परा देश्य भाषाओ मे थी या नही । इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है कि जयदेव की परिपूर्ण शैली का वैसे ही क्रमिक विकास हुआ होगा जैसे अन्य साहित्य का होता है। इस विकास की मुख्य कड़ियाँ देशी भाषा में ही किसी समय थीं । सभव है कि आगे वे प्राप्त भी हो सके। मानसोल्लास के ऊपर लिखे हुए भाग मे कुछ अपभ्रंश भाषा

के नारायण गीन भी हैं। अनुमान तो यह होता है कि गुप्तकाल मे भी जो शृ गार रस के नारायण गीत गाए जाते थे, उनकी भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा रही होगी। कम से कम हल्लीसक रास या तालक और लकुट रासों के गोपाल गूजरी नृत्यों के साथ गाए जाने वाले जो गीत थे, वे देशी भाषा मे ही थे । इस प्रकार गेय पदो की परम्परा को प्राचीन काल मे दूर तक ढूॅढना होगा । इस प्रमाण सामग्री मे जितनी भी खोई हुई कड़ियॉ पुन प्राप्त की जा सके उतना ही श्रेयस्कर है।

इस पुस्तक मे ब्रजभाषा और ग्वालियरी का अनवच्छिन्न सूत्र तो समझ मे आता है। उसी के साथ लेखक ने मध्यदेश की एक ही व्यापक भाषा की पृष्ठभूमि मे अवधी को भी मिला दिया है, इससे विद्वानो का सच्चा मतभेद संभव है । मध्यदेश और उसकी भाषा के विकास की पूरी ऐतिहासिक परम्परा का चित्र अभी तक स्पष्ट नही है उसके दो कारण है। एक तो उपलब्ध सामग्री की मर्यादा और दूसरे इसके पर्याप्त अध्ययन का अभी तक अभाव। दोनो ही दिशाओ से ज्यो-ज्यों कार्यक्षेत्र का विस्तार होगा त्यों-त्यो इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर अधिकाधिक प्रकाश पडेगा। लेकिन फिर भी कई बाते मोटे तौर पर अभी भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। जिसे कुवलयमाला मे 'तेरे मेरे आउत्ति' वाली मध्यदेशी बोली कहा है उसके पूर्वी और पश्चिमी दो मुख्य भेद थे, और उन्ही से पूर्वी और पछाईं दो परम्पराऍ विकसित हुई। वे दोनो साहित्यिक अभिप्राय,काव्य परम्परा, वस्तुतत्त्व, सास्कृतिक आदर्श की दृष्टि से परस्पर घनिष्ट सबध रखते हुए भी भाषा की दृष्टि से अलग पहचानने योग्य है। ये ही धाराऍ ग्वालियरी-ब्रज और अवधी की धाराऍ है। तुलसी और जायसी से भी लगभग दो सौ वर्ष पहले मुल्ला दाऊद द्वारा विरचित चन्दायन नामक अवधी प्रेमकाव्य की प्राप्ति हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण घटना है। १३७० ई० मे फिरोजशाह तुगलक के समय मे अवधी का यह प्रेमाख्यान

काव्य बन चुका था जिसमे जायसी के पद्मावत की काव्यात्मक रूपरेखा हूबहू पाई जाती है। सौभाग्य से चन्दायन काव्य का कुछ अंश प्रो० हसन असकरी (पटना कालेज, पटना) को मनेरशरीफ के खानकाह पुस्तकालय मे प्राप्त हो गया है, उसके देवनागरी सस्करण का प्रयत्न किया जा रहा है। चन्दायन की भाषा और काव्य-रूप दोनो की ही प्राचीन परम्परा अवश्य अवधी के क्षेत्र मे विद्यमान थी। गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र देव के राजपडित दामोदरशर्मा द्वारा लिखित उक्तिव्यक्तिरत्नाकर (१२ वी शती) नामक ग्रथ मे इस भाषा का जो रूप १२वी शती मे काशी मे बोलचाल मे था उसका प्रमाण अभी हाल मे मिला है। मुनिजिनविजय जी ने उस पुस्तक को प्रकाशित भी कर दिया है। उससे यह निश्चित होता है कि १२वी शती मे अवधी अपने विकास की रूपरेखा प्राप्त करने लगी थी। दामोदरशर्मा के बिन्दु से आरभ करके लगभग २०० वर्षो मे चन्दायन तक आते आते अवधी ने एक समर्थ भाषा का रूप प्राप्त कर लिया था। १३७० से लेकर १९०५ तक तो अवधी के प्रेमाख्यान एव अन्य काव्यो की अटूट परम्परा मिलती है जिसमे लगभग १०० ग्रथ और एक लाख चौपाई से कम सामग्री नही है। जिस भाषा का समृद्ध साहित्य और दीर्घकालीन निश्चित परम्परा हो, उसे केवल ग्वालियरी या ब्रज के साथ नत्थी करना असभव है। अतएव साहित्य भाषा की तथ्यात्मक परम्पराओं का उद्घाटन ही हम सबका लक्ष्य होना चाहिए। उसी के लिए सब स्थानों से प्राप्तव्य नई-नई प्रमाण-सामग्री का हम आवाहन करते है। उसी दिशा मे द्विवेदी जी का यह प्रयत्न भी अभिनदनीय है।

इस पुस्तक के द्वारा द्विवेदी जी ने एक सेवा और की है और वह है कुछ प्रसिद्ध कवियो को हमारे दृष्टिपथ मे ले आना। इनमे गोस्वामी विष्णुदास सचमुच ही प्रतिभाशाली कवि ज्ञात होते हैं। उनका काव्य-सग्रह शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित होना चाहिए। पृष्ठ

१३७-३८ पर महाभारत कथा से जो विष्णुदास की कविता का नमूना दिया गया है उसकी सरल और तरगित शैली १५वीं शती की उदीयमान हिन्दी भाषा की नवीन शक्ति का परिचय देती है। इस प्रकार का प्रवाह तत्कालीन हिन्दी को नए सॉचे में ढाल रहा था। अपभ्र श काव्यो मे जो सत्तम और उल्लास पूर्ण शैली थी उसका समस्त ग्राह्य अश जैसे विष्णुदास की शैली मे आगया था और इसी से आगे चल कर सूर और तुलसी की भाषा-शैली के प्रवाह का जन्म होने को था। देश और काज मे हिन्दी का साहित्य अत्यत जयशाली है। उसकी जो नई सामग्री जहॉ से भी उपलब्ध हो उसके लिए हार्दिक स्वागत है।

काशी विश्वविद्यालय
आश्विनशुक्ल ६, सवत् २०१२

(डॉ०) वासुदेवशरण

प्रस्तावना

"मध्यदेशीय भाषा" लिखकर द्विवेदी जी ने बड़ा काम किया है। मध्यदेश के एक समय के सब से बडे केन्द्र को लोग भूल गये थे। कितने ही यह समझते थे कि तानसेन अकस्मात ही ग्वालियर मे पैदा हो गये थे। इस बात को जानने की जरूरत है कि साहित्य, सगीत और कला का ग्वालियर शताब्दियो तक गढ़ रहा है। जिसे हम ब्रज साहित्य कहते है, वह पहले ग्वालियरी साहित्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह आज की ब्रज-बुन्देली-कनौजी का सम्मिलित साहित्य था। यदि हम उत्तर पचाली (रुहेलखडी) को न भी ले, तो जिस तरह ब्राह्मण-उपनिषद काल मे कुरु-पचाल और वहाँ की भाषा तथा साहित्य प्रधानता रखता था, पालियो और प्राकृतों के काल मे कान्यकुब्ज की भाषा और साहित्य शिष्ट और मुख्य माने जाते थे, इसी की उत्तराधिकारिणी है ग्वालियरी जो पीछे ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हुई।

श्री द्विवेदी जी की सभी स्थापनाओ से सहमत होने की जरूरत नही, जिस ग्वालियरी के पक्ष को यहाँ उन्होने रखा है, वह प्रबल है। पर साथ ही ग्वालियरी होने के कारण उनकी जिम्मेवारी बढ जाती है, जिसकी तरफ वे जागरूक भी है। ग्वालियरी सगीत के इतिहास तथा कला पर भी प्रकाश डालने की जरूरत है। यह प्रदेश बहुत बडा है, और यहाँ बहुत से जैन मदिर है। ये जीवित मदिर अपने छोटे-मोटे हस्तलेख संग्रहो के साथ है, जिन्हे ढूँढने पर ग्वालियरी साहित्य की कितनी ही चीजे मिल सकती हैं।

हिन्दी पाठकों को इतनी सामयिक और ज्ञानवर्धक पुस्तक देने के लिए द्विवेदी जी का कृतज्ञ होना चाहिए।

मसूरी
२४-१०-५५

राहुल सांकृत्यायन

निवेदन

'ग्वालियरी भाषा' नाम से मेरा प्रथम परिचय श्री चन्द्रबली पांडे ने सन् १९४२ ई० मे कराया था। उस के लिए मानसिह तोमर रचित 'मानकुतूहल' की खोज करने की प्रेरणा उनने दी थी। मानकुतूहल आज तक मूल रूप मे प्राप्त न हो सका। उसका फारसी अनुवाद रामपुर राज्य पुस्तकालय से सन् १९४५ ई० मे मिला। उसे हिन्दी मे 'मानसिह और मानकुतूहल' नाम से १९५४ मे प्रकाशित करा सका। परन्तु 'ग्वालियरी' की बात मतिष्क मे अटकी रही। यत्र-तत्र जो सकेत मिलते गये, वे एकत्रित करता रहा।

चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती के सम्पादन मे जब उसकी भाषा का विवेचन करने बैठा, तब समस्त प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ लिख डाला। मध्यकालीन काव्यभाषा को ब्रजभाषा नाम देना तथ्यों के अत्यन्त विपरीत ज्ञात हुआ और इस नाम के प्रयोग के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासो मे कुछ अत्यन्त विचित्र परिणाम दिखाई दिये। इस विषय को मधुमालती की प्रस्तावना मे खपा देने से विषय के स्पष्टीकरण की अपेक्षा भ्रान्ति ही फैल सकती थी। विद्वान मित्र डॉ० शिवमंगलसिह 'सुमन'ने इस विषय पर स्वतत्र पुस्तक लिखने का परामर्श दिया। अतएव मधुमालती का प्रकाशन स्थगित कर इसे पूर्ण करने मे लग गया।

प्रयास यह किया गया है कि कोई बात बिना आधार के न कही जाय और इसी कारण विधानो की व्याख्याओ के समान लगभग प्रत्येक कथन के समर्थन मे ठोस ऐतिहासिक सामग्री का आश्रय

लिया है अथवा किसी न किसी विद्वान को उद्धृत किया है और पाद-टिप्पणी मे उनकी पुस्तक या लेख का तथा आधारभूत सामग्री की दशा में सग्रह आदि का उल्लेख किया है। इसका एक कारण है। मेरा जन्म बुन्देलखड मे हुआ है, यही की मिट्टी-पानी से मै पला हूँ, यही मेरा कार्यक्षेत्र रहा है। इसका मुझे उचित गव भी है। शका यही थी कि विशुद्ध सत्यान्वेषण को इस घटना के कारण स्थानीय मोह का रग दिया जा सकता है। हिन्दी के एक प्रतिष्ठित विद्वान ने इसमे 'ग्वालियरी' के समर्थन मे 'अति' देखी। इसी कारण तथ्य और घटनाएँ अन्य विद्वानों की कृतियों से ली गयी है। उन्हे एकत्रित रख कर जो परिणाम निकल सकते है, उनकी ओर सकेत मात्र किये गये है। इस पुस्तक की मूल स्थापना के औचित्य के विषय मे मुझे कोई सदेह अथवा शंका नही है। यह तो मै समझता हूँ कि इसे एकदम पूर्ण समर्थन न मिल सकेगा। जिस भ्रम ने पिछले डेढ सौ वर्ष से हमे जकड रखा है, वह एकाएक पीछा नही छोड सकता, एक पीढ़ी तो इसके लिए चाहिए ही। सतोष यही है कि निरुजनेत्रो से प्रत्येक बात को देखने वालो का भी अभाव नही है। डॉ० वासुदेवशरण, श्री चन्द्रवली पाडे, श्री अगरचन्द नाहटा तथा श्री राहुल जी जैसे अनेक प्रतिष्ठित विद्वानो का समर्थन आज भी इस पुस्तक की मूल स्थापना को प्राप्त है। जो प्रश्न गौण रूप से इस पुस्तक मे आए हैं, उन्हे भी आगे का अध्ययन पुष्ट एव अधिक प्रमाणित करेगा यह मुझे पूर्ण विश्वास है, क्योंकि ग्वालियरी अथवा बुन्देलखण्डी होते हुए भी इतिहास को इतिहास के रूप मे देख सकने का अभ्यास मैने किया है और उसी भावना से इसे लिखने की सतर्कता बरती है।

डॉ० वासुदेवशरण जी के 'दो शब्द' ने मेरे इस प्रयास की पूरी 'मजूरी' मुझे दे दी है। उनके द्वारा मध्यकालीन काव्यभाषा के लिए 'ग्वालियरी-ब्रज' नाम प्रयुक्त किया गया है। एकदम नकली सिक्के की अपेक्षा यह मिश्रित धातु वास्तविकता के अधिक निकट है।

इस नाम के प्रयोग से ही अनेक भ्रान्तियाँ अपने आप समाप्त हो जायँगी। श्री राहुल सांकृत्यायन का भी मै बहुत आभारी हूँ। मेरे आग्रह को स्वीकार कर उनने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की कृपा की और इसकी मूल स्थापना से सहमत होकर उसे बल प्रदान किया। मेरे 'ग्वालियरी' होने के नाते जिस कार्य को पूरा करने का सकेत उनके द्वारा किया गया है, उस दिशा मे 'विक्रम-स्मृति-ग्रथ' के सम्पादन से लेकर 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', 'ग्वालियर राज्य की मूर्ति-कला', 'मानसिह और मानकुतूहल', 'भारत की मूर्तिकला' आदि मे निभाने का प्रयास किया तो है परन्तु यह कार्य वास्तव मे किसी विशाल सस्था का है, एक व्यक्ति का नही। वह संस्था कभी खड़ी हो सके, इसका अभी तो स्वप्न देखता रहता हूँ। अनेक स्वप्न साकार हुए भी है, यह कब होगा इसका उत्तर समय और मध्यदेश के समर्थ मित्र दे सकेंगे। तभी मध्यदेश का चिरसकल्पित राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास भी लिखा जा सकेगा, जिसके साथ आज तक न्याय नही हो सका।

जिन विद्वानो की कृतियो और हस्तलिखित सामग्री से मैने लाभ उठाया है उनका उल्लेख पुस्तक मे यथास्थान किया है। उनका मै आभारी हूँ। मेरे मित्र श्री गुरुप्रसाद दुबे तथा श्री नन्नूलाल खण्डेलवाल और मेरे अनुज श्री विजयगोविन्द द्विवेदी इस पुस्तक को पूरा कराने पर तुले हुए थे। वे गाडी आगे न धकेलते तो मै तो अभी इसे पूरा न कर सकता था, किसी अनिश्चित भविष्य के लिए ही इसे स्थगित करता रहता। विद्यामन्दिर-प्रकाशन के प्रबन्धक श्री उदय द्विवेदी और इसके मुद्रक श्री भगवानलाल शर्मा तो मेरे व्यक्तित्त्व के ही अग है। यदि इसके प्रकाशन से कोई ज्ञान-वृद्धि हुई है, तो ये सब भी उसके भागी है।

मुरार
विजयादशमी, स० २०१२ वि०
२६ अक्टूबर, १९५५ ई०

हरिहरनिवास द्विवेदी

विषय-सूची

मध्यदेशीय भाषा

[ग्वालियरी]

प्रारंभिक

ईसवी सातवी शताब्दी तथा उसके कुछ शताब्दियों पश्चात भी समस्त भारत की राष्ट्रभाषा सस्कृत रही। धुर दक्षिण से उत्तर तक लगभग समस्त राजकीय शिलालेख सस्कृत मे मिलते है। अपवाद स्वरूप कुछ लेख अन्य स्थानीय भाषाओ मे भी है। राष्ट्रभाषा सस्कृत द्वारा समस्त भारत मे विचारो का आदान-प्रदान होता था। साथ ही लोक-भाषाएँ विभिन्न प्राकृतो के रूप मे विकसित हो रही थी। बौद्ध और जैन सम्प्रदायो ने जन-सम्पर्क-स्थापन के प्रयास मे प्राकृतों मे बहुत बड़े साहित्य का निर्माण किया। यद्यपि शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि प्राकृतो के अनेक स्थानीय भेद हो गये थे, परन्तु शिष्ट साहित्य की बहुप्रचलित मान्य भाषाएँ महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत थी। महाराष्ट्री और शौरसेनी के मेल से 'नागर' प्राकृत का जन्म हुआ*। इसका केन्द्र मध्यदेश था। समस्त मध्यदेश, राजस्थान तथा गुजरात मे यह लोकभाषा के रूप मे पूर्णत प्रतिष्ठित हो गयी थी। पूर्व की ओर इस प्राकृत का विस्तार होने पर उसका मागधी से मेल हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अर्धमागधी का जन्म हुआ जिसका प्रचार प्रयाग और मगध के बीच रहा। सस्कृत के पश्चात इनके द्वारा ही भारत राष्ट्र ने विचारों का आदान-प्रदान किया। हिन्दी और प्राकृत के बीच की कडी अपभ्रंश है। ये अपभ्रंश अनेक स्थानीय भेदों को लेकर चली थी, परन्तु वे एक व्यापक काव्यभाषा को मानती थी।

अपभ्रंशो का प्रादुर्भाव

इन अपभ्रंशो से ईसवी ग्यारहवी शताब्दी से वर्तमान हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओ का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। प्रयाग से लेकर

---

* अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी क्या हिन्दी मेरठ की बोली है? भारती जून १९५४, पृष्ठ ५।

गुजरात तक, अर्थात् मध्यदेश, राजस्थान और गुजरात मे जिस भाषा का विकास हुआ वह मूल रूप मे बहुत अशो मे समानता लिये हुए थी। प्रयाग के पूर्व मे भी तिरहुत के विद्यापति की कीर्त्तिलता और सिद्धो की भाषा भी इसी केन्द्रीय भाषा की ओर उन्मुख है। यही कारण है कि जहाँ सरहपा, कण्हपा और शबरपा तथा 'कीर्त्तिलता' की भाषा प्राचीन हिन्दी मानी जाती है, वहाँ राजस्थान की डिंगल-पिंगल, भडौच के गणपति की 'माधवानल कामकदला' की भाषा भी प्राचीन हिन्दी ही है। प्राचीन मराठी भी उसके प्रभाव को लिये हुए है। बौद्ध-जैन-सिद्ध-नाथ सम्प्रदायो ने इसे धुर दक्षिण तक पहुँचा दिया। व्यापारिक और राजकीय सम्पर्क भी उत्तर की भापा दक्षिण मे ले गये। अलाउद्दीन के आक्रमण के पहले ही उस भाषा का सूत्रपात हो चुका था जिसे आज दखिनी हिन्दी के नाम से सम्बोधित करते है।

प्राचीन हिन्दी

प्रान्तीय भाषाओ का विकास किस प्रकार होता गया और केन्द्रीकरण के साथ-साथ भाषाओ का विकेन्द्रीकरण किन कारणो से होता रहा, इसके विवेचन का यह स्थान नही। यहाँ तो केवल हिन्दी के विकास पर विचार करना है। मगध के पश्चिम की अपभ्रंश अनेक रूपो मे विकसित हुई। जब पूर्व-मध्यकालीन प्राकृतो ने अपभ्रंशों का रूप धारण किया, तब उनके द्वारा जिस देश-व्यापी देशी भाषा का निर्माण हुआ था वह अनेक रूपो मे बिखरने लगी। धुर पूर्व मे बंगाली, ठेठ पश्चिम मे गुजराती तथा दक्षिण मे मराठी भाषाओ का विकास हुआ। उत्तर-पश्चिम मे पजाबी ने रूप ग्रहण किया। मध्यदेश मे हिन्दी के प्रकृत रूप का विकास हुआ। इस मध्यदेश की भाषा का प्रसार पूर्वी राजस्थान और बिहार तक रहा। पश्चिमी राजस्थान मे वह गुजराती के रूप से प्रभावित रही तथा अपभ्रंश से पूर्णत मुक्त न हो सकी। पूर्व मे वह मागधी की परम्परा से अभिभूत रही। उत्तर-पश्चिम — पूर्वी पजाब मे पजाबी प्रभाव होना प्राकृतिक था। परन्तु ये सभी सीमावर्ती रूप केन्द्रीय भाषा की ओर उन्मुख रहे तथा स्थानीय प्रभावों के होते

रूपभेद

हुए भी मध्यदेशीया हिन्दी के अग बने रहे।

हिन्दी के विकास की स्पष्टत दो अवस्थाएँ दिखाई देती है। ईसवी बारहवी-तेरहवी शताब्दी तक वह अपभ्र श के प्रभाव से पूर्णत मुक्त न हो सकी थी। आगे दो शताब्दियो मे उसका वह सस्कृत-तत्सम-शब्द-बहुल रूप बन गया था जिसमे आगे उत्तर-मध्यकाल का विशाल साहित्य लिखा गया। प० रामचन्द्र शुक्ल ने इन दो कालो को हिन्दी के विकास के 'प्राकृत काल' और 'सस्कृत काल' कहा है*। प्राकृत काल मे जिस अपभ्र श हिन्दी का निर्माण हुआ, उसमे मान्यता शौरसेनी नागर अपभ्र श को थी। हिन्दी के प्राकृत-कालीन रूप के विकास का इतिहास यहाँ अनावश्यक है, उसके सम्बन्ध मे एक ही बात यहाँ स्मरण रखने योग्य है कि उसका मध्यदेश का रूप ही टकसाली माना जाता था, जो मध्यदेशीया अपभ्र श के रूप मे विकसित हुई थी। आगे चौदहवी, पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी मे हिन्दी के जिस रूप का निर्माण हुआ, उसका केन्द्र ग्वालियर था। इन तीन सौ वर्षो तक इस नवीन हिन्दी का नाम ही 'ग्वालियरी भाषा' था। यद्यपि यह भाषा उत्तर भारत की मान्य काव्यभाषा थी तथा उसका प्रसार गुजरात, महाराष्ट्र और धुर दक्षिण मे भी हुआ था, परन्तु उसका नामकरण उस स्थान के नाम पर हुआ जहाँ की भाषा इन समस्त प्रदेशो मे उसका व्यवहार करने वालो के लिए प्रामाणिक रूप मे मान्य थी। आज से दस वर्ष पूर्व इसी आशय से हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान श्री चन्द्रबली पांडे ने प्राचीन परम्परा की ओर सकेत करते हुए लिखा था कि इन चार शताब्दियो मे (ईसवी चौदहवीं से सत्रहवी शताब्दी तक) 'होता यह था कि जब किसी शब्द के प्रयोग पर विवाद होता था तब ब्रजभाषा का ही प्रयोग शिष्ट माना जाता था, अर्थात् भाषा की टकसाल ब्रजभूमि अथवा ग्वालियर मानी जाती थी†।' पांडेजी ने 'ब्रजभाषा और

ग्वालियरी भाषा — पाडेजी का मत

---

* रामचन्द्र शुक्ल बुद्धचरित पृष्ठ १२।

† चन्द्रबली पाडे . अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६।

ब्रजभूमि' का उल्लेख प्रचलित रूढ़ि के पालन मे किया है। ब्रजभूमि की भाषा सत्रहवी शताब्दी के पश्चात कुछ कवियों और सम्प्रदायो के द्वारा टकसाली मानी गयी, उसके पहले टकसाली रूप ग्वालियरी का ही मान्य था। श्री पांडेजी ने आगे अपने 'केशवदास' मे 'ग्वालियरी भाषा' पर कुछ अधिक विचार किया है और केशवदास की भाषा को 'ग्वालियरी' कहा है*। भले ही अस्पष्ट और प्रारभिक रूप मे हो, परन्तु 'ग्वालियरी' की ओर सर्वप्रथम सकेत करने का श्रेय श्री पांडे जी को है†।

इस विषय मे अद्यतन अभिमत श्री राहुल सांकृत्यायन ने प्रकट किया है। श्री राहुल ने लिखा है 'जान पड़ता है, तुगलको के शासन के अन्त मे दिल्ली की सल्तनत के कमजोर पड़ जाने पर ब्रज-ग्वालेरी भाषा के क्षेत्र मे जो राज्य कायम हुआ, उसका केन्द्र ग्वालियर था, इसलिए ब्रज बुन्देलखण्डी का नाम ग्वालेरी भाषा भी कहा जाने लगा।' साथ ही राहुल जी ने लिखा है 'ब्रज-भाषा और ग्वालेरी को कभी पर्याय माना जाता था। वस्तुत बुन्देली और ब्रज की भाषाएँ इतनी समानताएँ रखती है कि अभी भी कितने ही ब्रज-भाषा-भाषी बुन्देली को ब्रज की एक बोली ही समझते हैं, और जिसे आज के बुन्देले पसन्द नही करते। जब आज इतनी समानता है, तो आज से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व तो वह और भी रही होगी‡।' प्रश्न किसी के कहने और किसी के पसन्द करने या ना-पसन्द करने का नही है, महत्त्वपूर्ण प्रश्न है ऐतिहासिक वास्तविकता जानने का और सत्यान्वेषक-बुद्धि से उसे मानने का। श्री चन्द्रबली पाडे और श्री राहुल सांकृत्यायन के इन दो अभिमतों की अभिव्यक्ति के बीच

राहुल जी का मत

---

* चन्द्रबली पाडे केशवदास, पृष्ठ २९४।

† प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'मानसिह और मानकुतूहल' की भूमिका।

‡ राहुल साकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६७।

इतनी सामग्री ज्ञात हो चुकी है कि मध्यकालीन हिन्दी की विकास परम्परा को कुछ अधिक स्पष्टता के साथ तथ्यों के आधार पर निरूपित किया जा सके।

ग्वालियरी और ब्रजभाषा

जिस समय हिन्दी के 'सस्कृत रूप' का विकास हुआ, उस समय ब्रजमण्डल नामक क्षेत्र अथवा ब्रजभाषा नामक भाषा का अस्तित्व नही था,* न उस समय बुन्देलखण्ड अथवा बुन्देली भाषा नाम ही प्रचलित थे। ये सज्ञाएँ बहुत बाद की हैं और इनके आधार पर हिन्दी के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को समझना सम्भव नही है। उस समय, अर्थात तेरहवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक, इस प्रदेश को मध्यदेश कहा जाता था और यहाँ विकसित हुई हिन्दी के नाम 'देशी भाषा', 'भाषा', 'मध्यदेश की बोली' 'मध्यदेशीया' अथवा 'ग्वालियरी भाषा' मिलते हैं†। आज समस्त मध्यदेशीय साहित्य की भाषा को ब्रजभाषा नाम देने की परम्परा ही नही चल पडी है, वरन समस्त मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की भाषा को मथुरा-गोकुल के सकुचित क्षेत्र की स्थानीय शब्दावली, व्याकरण तथा प्रयोगों के मापदण्ड से परखने की रीति भी चल पडी है। यह भयकर ऐतिहासिक विपर्यय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बुद्ध चरित को शुद्ध यानी मथुरा की भाषा, ब्रजभाषा, मे लिखने के प्रयास के समर्थन मे लिखा है 'ऐसी भाषा को देखते हुए ब्रजभाषा को जो 'ऐतिहासिक' या 'मरी हुई' कहे, उसे अपना अनाड़ीपन दूर करने के लिए दिल्ली भाड़ झोंकने न जाना होगा, मथुरा की एक

---

* डॉ० सत्येन्द्र ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४६ तथा डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ १६-१७।

† रेखता नाम भी बाद का है, जो मुगल दरबार मे खडीबोली-युक्त पद्य के लिए प्रयुक्त हुआ, और जिसका विकास दिल्ली मे पजाबी के प्रभाव के कारण हुआ। इस भाषा को 'गूजरी' नाम भी दिया गया।

परिक्रमा से ही काम चल जायगा* ।' संवत १६७६ वि० मे जब शुक्ल जी ने यह वाक्य लिखा था, तब ब्रजभापा 'ऐतिहासिक' भले ही न हो, पर आज वि० स० २०१७ मे वह क्या है यह कहने की आवश्यकता नही। इसमे किसी को कोई अफसोस करने की बात भी नही, भापा के रूप तो बदलते ही रहे है, बदलते ही रहेंगे। ब्रजभाषा नाम से निर्देशित साहित्य भारतीय वाङ्मय की अमर विभूति है, यह मानने में किसी को आपत्ति नही, परन्तु साथ ही यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि मथुरा की परिक्रमा से जो भाषा जानी जायगी, उसमे विशुद्ध रूप मे काव्य रचना करने वाले नेही महाँ ब्रजभाषा प्रवीन बहुत बाद को और बहुत थोडे पैदा हुए है। मध्यकालीन काव्यभाषा के वास्तविक रूप को समझने के लिए न दिल्ली भाड झोंकने के लिए जाने की आवश्यकता है और न चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे प्रस्थापित ब्रज मण्डल के चौरासी कोस की परिक्रमा करने की आवश्यकता है। इसके लिए तो विष्णुदास, मानक, थेघनाथ, चतुर्भुजदास निगम, केशवदास, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, बैजू, तानसेन, बिहारीलाल, महाकविराय सुन्दरदास, यशवन्तसिह, भिखारीदास, भूषण जैसे कवियों की कृतियों के अवगाहन और ग्वालियर तथा ओडछा की रज लेकर बेतवा और चम्बल के जल से मनमुकुर निर्मल करने से काम चल जायगा।

ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी आदि नामो से उत्पन्न भ्रम

मध्यकाल के हिन्दी साहित्य को ब्रजभाषा, बुन्देलखडी अथवा अवधी कोई भी नाम देने मे किसी को उतनी आपत्ति नही हो सकती, नाम मे धरा भी क्या है, परन्तु जिस प्रवृत्ति के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य के विवेचनो मे अत्यन्त विद्रूप परिणाम निकले हैं वह है मथुरा-गोकुल की बोली को टकसाली मानकर हिन्दी के संस्कृत रूप के विकास से लेकर बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक की काव्य-भाषा के

* रामचन्द्र शुक्ल बुद्ध चरित, काव्य-भाषा, पृष्ठ ५५ ।

परीक्षण की भावना। इसी के कारण ब्रजभाषा और ब्रजमण्डल के एक सम्प्रदाय विशेष में अस्तित्व प्राप्त करने से पहले की भाषा का नाम 'ब्रजभाषा' दिया जाता है*, सूर, केशव, तुलसी, बिहारी जैसे अनेक महाकवियो की भाषा को ब्रजभाषा मानकर उसमे बुन्देलखंडी-अवधी का प्रभाव बतलाया जाता है। इन स्थापनाओं से ऊबकर, उनकी प्रतिक्रिया के रूप मे यह भी लिख दिया जाता है 'चन्देल साम्राज्य के अधिकांश भाग मे बुन्देलखडी भाषा अपनी अनेक स्थानीय बोलियों के साथ ग्यारहवीं-बारहवीं सदी मे विकसित हो रही थीं†।' वास्तविकता यह है कि हिन्दी मे ब्रजमडल को केन्द्र मानकर चलने वाली काव्य-भाषा का कभी अस्तित्त्व नही रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश मे हुई, वह बगाल की देन है। उस समय काव्य-भापा की टकसाल कही अन्यत्र थी। वह उस प्रदेश मे थी जिसे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'ब्रजभाषा' मे ब्रज-भापा के क्षेत्र से बाहर बतलाया है‡। ग्वालियर और बुन्देलखड की भाषा को ही उस समय काव्यभापा का टकसाली रूप माना जाता था। उसका विस्तार समस्त मध्यदेश मे था। पूर्वी राजस्थान, दिल्ली, अयोध्या और सुदूर विंध्याटवी के काव्य-मर्मज्ञ उसमे रचना करते थे। तब तक 'ब्रजमडल' वर्तमान अर्थो मे उसका एक छोटा-सा अश मात्र था, जहाँ के विद्वानो को भी ग्वालियर मे ही प्रश्रय मिलता था। यह ग्वालियरी, मध्य-देशीया शौरसेनी की पुत्री, अपना शब्द-भण्डार सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और मुस्लिम सम्पर्क के पश्चात अरबी-फारसी तक से भरती थी। पुष्टि-मार्गी अष्टसखाओं को भी उसका ही रूप दाय मे मिला था। जब मानसिंह तोमर का अखाडा ई० १५१७ मे उखड़ा, तब उसके पण्डित, साहित्यकार, कलावन्त, चित्रकार और शिल्पी दिल्ली, आगरा, ओड़छा, रीवाँ आदि मे

---

* डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ १७।

† केशवचन्द्र मिश्र चन्देलो का इतिहास, पृष्ठ २१३।

‡ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, मानचित्र।

फैल गये। गायक बैजू और तानसेन इसी अखाडे के शिष्य थे। विष्णुदास, मानसिह, बैजू, तानसेन, रामदास आदि का पद-साहित्य सूर को मिला था और इसी भेद को न समझने के कारण सूर की भाषा मे बुन्देली प्रभाव दिखाई देता है। वह प्रभाव नही, उस समय की प्रतिष्ठित काव्य-भाषा का रूप है। इसी ग्वालियरी भाषा को लेकर केशव और बिहारी के पूर्वज ओडछा गये थे, इसे लेकर ही अयोध्या का मानक अयोध्या लौटा होगा और इसे ही लेकर ग्वालियर के गूजर, खिलजी और तुगलकों की सेनाओं के साथ दक्षिण गये होंगे तथा उनके ही कारण दखिनी हिन्दी का एक नाम 'गूजरी' पडा होगा*। गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयम्भू की रामायण पढ़ी थी†, उसकी पूर्वतम उपलब्ध प्रति ग्वालियर मे लिखी मिलती है‡। अधिक समय श्रद्धापूर्वक चित्रकूट मे बिताने वाले गोस्वामी जी की भाषा मे बुन्देली प्रभाव देखने वाले यदि ये तथ्य स्मरण रखे और ग्वालियर मे बनी व्यापक काव्य-भाषा को दृष्टि मे रखे, तो ग्रियर्सन साहब द्वारा भारत के खंड-खड करने के प्रयास मे प्रदत्त बुन्देलखडी नाम की भाषा के ब्रजभाषा मे घुस बैठने की इतिहास-विरुद्ध कल्पना न करे। 'ब्रजभाषा' और 'ब्रजमडल' नाम तो खोजने पर सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी मे मिल भी जाएँगे, परन्तु बुन्देलखडी बोली या भाषा नाम कब और कहाँ प्रयुक्त हुआ है, इस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। बुन्देलों ने बुन्देलखड नाम दिया, परन्तु उन्हें बुन्देली भाषा नाम देने की आवश्यकता न थी। उनके प्रदेश की भाषा उस समय समस्त हिन्दी-

---

* श्रीराम शर्मा दखिनी का पद्य और गद्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की अवतरणिका, पृष्ठ ५।

† राहुल साकृत्यायन तुलसी और स्वयभ या शभू, सरस्वती, सितम्बर १९५५, पृष्ठ १५६।

‡ राहुल साकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६७।

भाषी जनता की मान्य काव्यभाषा थी, वे उसे संकुचित रूप क्यों देते ? इस मध्यकालीन काव्यभाषा का रूप यदि ब्रजभाषा से मिलता है तो इस कारण से कि आगे नाम ग्रहण करने वाले ब्रजमडल मे भी वह मान्य काव्यभाषा थी, वह ब्रजमडल मध्यदेश का ही एक छोटा-सा भाग था। मथुरा की परिक्रमा की सीमा मे भाषा के रूप को आबद्ध कर पुष्टिमार्ग के प्रचार के पूर्व अथवा उसके पश्चात हिन्दी के समर्थ कवियो ने (कुछ अत्यन्त अल्पसख्यक कवियों को छोडकर) रचनाएँ नही कीं। जब नाम बदल ही गया, तो उसे स्वीकार अवश्य कर लिया गया, परन्तु इस भाषा की परिभाषा बदल दी गयी और भिखारीदास ने इसी काव्यभाषा की परम्परा को देखकर ही व्यवस्था दी—ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमान्यो।

मध्यदेश की भाषा के विकास के अध्ययन की आवश्यकता

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नाम मे कोई महत्त्व नही। ग्यारहवी शताब्दी से उन्नीसवी शताब्दी तक की मध्यकालीन हिन्दी भाषा को ब्रज-भापा कह लीजिए, अवधी कह लीजिए, भाषा कह लीजिए, चाहे हिन्दवी या हिन्दी कह लीजिए, महत्त्वपूर्ण बात है उसकी रूप-परम्परा को समझने की। 'ब्रजभाषा' नाम अपने साथ मथुरा की परिक्रमा की संकुचित भावना लेकर चलता है, वह उसका प्रतीक बन गया है। इसके कारण हमे इस मध्यकालीन काव्यभाषा मे बुन्देलखडी, कन्नौजी, राजस्थानी, अवधी, मालवी विभेदो की दीवारे खडी दिखाई देती हैं जो वास्तव मे उसमे कभी नहीं मानी गयी। जिस प्रकार जायसी ने ग्रामीणों मे इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए व्यापक काव्यभाषा का रूप छोड़ कर अवध की स्थानीय बोली को अपनाया, उसी प्रकार साम्प्रदायिक आग्रह से पुष्टिमार्ग ने मथुरा-गोकुल की बोली के रूपो को अपनाया। वे मध्यकालीन काव्यभाषा के मान्य रूप नही हैं, उसके अप-वाद हैं। अपवादों से नियम नही बनते। इसके विपरीत, ग्वालियरी भाषा के नाम के पीछे उस व्यापक काव्यभाषा की कल्पना है, जो मध्य-काल की काव्यभाषा थी। इस तथ्य का विस्मरण ही समस्त गड़बड़ी का

मूल है। मध्यकालीन मध्यदेश की भाषा के विकास के इतिहास को हृदयंगम करने के पश्चात ही उस मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा का सही रूप से विवेचन हो सकता है, जिसके विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल लिख गये हैं—'यद्यपि यह वाणी ब्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध है, पर वास्तव में अपने संस्कृत रूप में यह सारे उत्तरापथ की काव्यभाषा रही है (और है)।'* उसे नाम कोई भी दे लीजिए, प्रधान प्रश्न उसके रूप तथा उसकी ऐतिहासिक परम्परा का है।

---

* रामचन्द्र शुक्ल बुद्ध चरित, पृष्ठ २ (कोष्ठक हमनें लगाये हैं)।

मध्यकालीन मध्यदेश

मध्यकालीन हिन्दी—मध्यदेश की भाषा—के विकास को समझने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि मध्यकाल मे मध्यदेश भारत के किस भू-भाग को माना जाता था, उसके सांस्कृतिक और राजनीतिक केन्द्र कहाँ थे और कौनसे वे स्थान थे जहाँ के शब्द-साधकों ने भाषा को वह रूप दिया जिससे वह अपभ्रंश से बिलकुल भिन्न दिखने लगी—वह संस्कृत परक हो गयी। इस परम्परा को ठीक न समझने के कारण हम हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों मे सही परिणामों पर नही पहुँच सके हैं। मध्यदेश का सांस्कृतिक इकाई के रूप मे मध्य-काल मे अस्तित्व था और मध्यदेश नाम एक सीमा विशेष के लिए ही प्रयोग होता था। यह तथ्य अब तक स्पष्ट रूप से मान्य नहीं किया जा सका। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के मूर्धन्य विवेचकों के मस्तिष्क मे यह धारणा घर कर गयी कि ऐतरेय ब्राह्मण से अलबेरूनी के समय तक मध्यदेश का जो रूप साहित्य और इतिहास मे प्रतिष्ठित था, वह मध्यकाल में विच्छिन्न हो गया। लगभग तीस वर्ष पूर्व डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का एक लेख 'मध्यदेश का विकास' प्रकाशित हुआ था।* उसमे ऐतरेय ब्राह्मण से अलबेरूनी (सन् १०३० ई०) तक मध्यदेश से भारत के किस भू-भाग से आशय समझा जाता था, इसका विवेचन किया गया है। अन्त मे निष्कर्ष यह निकाला गया है कि विदेशियो के आधिपत्य के कारण मध्यदेश शब्द को ही मध्यदेश वालों ने बिलकुल भुला दिया। इस

मध्यदेश विषयक भ्रान्त धारणाएँ

---

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ४, अंक १, तथा विचारधारा, पृष्ठ १—१०।

स्थापना की उनके द्वारा अभी हाल तक पुष्टि हुई है* । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश शब्द का प्रयोग 'अवध आदि' के लिए किया है† । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आज के समस्त हिन्दी भाषी प्रदेश को ही मध्यदेश कह दिया है‡ । 'मध्यदेश' का यह अस्पष्ट एव भ्रामक प्रयोग आगे अनेक विद्वानो ने किया ।

अलबेरूनी के पश्चात मध्यदेश को न तो मध्यदेश वालो ने भुलाया न देश के अन्य भाग वालों ने । मध्यकाल मे अत्यन्त स्पष्ट रूप मे लोगों के सामने मध्यदेश नामक सांस्कृतिक इकाई की रूपरेखा थी।

मध्यकाल का मध्यदेश

वास्तविकता तो यह है कि ईसवी दसवी शताब्दी से तो उसका स्पष्ट अविच्छिन्न रूप प्रारभ हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण मे जिस मध्यदेश का उल्लेख है, उसमे कुरु, पांचाल, वश और उशीनरो के प्रदेश माने जाते थे। अत पश्चिम मे प्राय कुरुक्षेत्र से लेकर पूर्व मे फरुखाबाद के निकट तक और उत्तर मे हिमालय से लेकर प्राय चम्बल नदी तक का आर्यावर्त देश ऐतरेय ब्राह्मण के समय मे मध्यदेश गिना जाता था । मनुस्मृति मे मध्यदेश की सीमा हिमालय और विन्ध्य के मध्य मे और विनशन से पूर्व तथा प्रयाग से पश्चिम मे बतलाई गयी है। जहाँ प्राचीन सरस्वती नदी मरुदेश मे विलीन होकर नष्ट हो गयी, वही विनशन है। यह मेवाड और उदयपुर के पश्चिम का मरुदेश है¶ । फाह्यान मथुरा से दक्षिण के भू-भाग को मध्यदेश कहता है । अलबेरूनी ने कन्नौज के आसपास के प्रदेश को मध्यदेश कहा है ।

---

* धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास (१९५३ का सस्करण) पृष्ठ ४४ ।

† रामचन्द्र शुक्ल बुद्ध चरित, पृष्ठ ४ ।

‡ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १ ।

¶ अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी क्या हिन्दी मेरठ की बोली है ?, भारती, जून १९५४, पृष्ठ ७ ।

राजशेखर कान्यकुब्ज (कन्नौज) का राजकवि था। उसका काव्य-काल ईसवी सन् ६०० के लगभग है। अपनी काव्यमीमांसा मे उसने समकालीन भौगोलिक परिस्थितियो की विस्तृत जानकारी दी है। उसने मध्यदेश की वही परिभाषा बतलाई है जो मनुस्मृति मे दी गयी है, अर्थात पूर्व मे प्रयाग तक, पश्चिम मे विनशन तक, उत्तर मे हिमालय तक और दक्षिण मे विन्ध्याचल तक। मध्यदेश का अभिमानी यह कवि मध्यदेश के कवियो को तत्कालीन सभी भाषाओ का पण्डित बतलाता है। उसने लिखा है कि "गौड़ (बगाल) आदि संस्कृत मे स्थित है, लाटदेशीयों की रुचि प्राकृत मे परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टाक, दक्षिण पश्चिमी पजाब) और भादानक के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चम्बल का निकास) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते है, जो कवि मध्यदेश मे (कन्नौज, अन्तर्वेद, पाचाल आदि) रहता है, वह सर्वभाषाओ मे स्थित है*।"

राजशेखर

विक्रमी बारहवी शताब्दी मे सोमदेव ने मध्यदेश मे ही कथासरित्सागर लिखा था। उसमे विक्रमादित्य के सेनापति विक्रम शक्ति द्वारा की गयी दिग्विजय मे दक्षिणापथ, सौराष्ट्र, मध्यदेश, बंग और अंग सहित पूर्वदेश के जीतने का उल्लेख है। उत्तर मे केवल काश्मीर और कौवेरीकाष्ठा का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार कथासरित्सागर मे सोमदेव का आशय जिस मध्यदेश से था वह सौराष्ट्र के पूर्व मे, बग, अंग और पूर्वदेश के पश्चिम मे, दक्षिणापथ के उत्तर मे तथा काश्मीर के दक्षिण मे था। सन १३०४ ई० मे मेरुतुंगाचार्य ने प्रबन्धचिन्तामणि लिखा। उसमे भारत के अनेक प्रादेशिक विभागो के नाम आए है।

सोमदेव और मेरुतुंग

---

* चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सवत् १६७८ पृष्ठ १० पर उद्धृत।

मध्यदेश का नाम उसमे प्रसगवश दो बार आया है * । साथ ही गुर्जर, मालव, मरुदेश, महाराष्ट्र, बालाक, तिलग आदि प्रदेशो का भी उल्लेख है, परन्तु इस ग्र थ से मध्यदेश की सीमाएँ ज्ञात नही होती । ज्ञात केवल यह होता है कि मध्यदेश के जादूगर उस समय गुर्जर राज की सभा मे थे और यहाँ कुछ विश्रुत विद्वान भी थे ।

मध्यकाल मे सैकडो ऐसे ग्र थ लिखे गये जिनमे विविध प्रसगो से देश की प्रादेशिक सीमाओ का उल्लेख किया गया है । देश के प्रत्येक भाग की बोलियाँ, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहारो पर भी इन पुस्तको मे प्रकाश डाला गया है ।

कल्याणसिह का अनगरग तथा अन्य ग्रन्थ

कुवलयमाला बोलियो की जानकारी देते हुए बतलाती है "तेरे मेरे आउत्ति जम्पिरे मध्यदेसेय" (मध्यदेश मे बोलते है 'मेरे तेरे आउति') । कामशास्त्र की पुस्तको मे प्रादेशिक विभागो की रमणियो का वर्णन दिया गया है । ग्वालियर के राजा कल्याणसिंह तोमर (सन् १४७६ ई०) ने अनगरग नामक एक काम- शास्त्र का ग्रन्थ लिखा है । उसमे सबसे प्रथम मध्यदेश की रमणियो का वर्णन किया गया है तथा उसके पश्चात मालव, गुर्जर, लाद, कर्नाटक आदि की स्त्रियो का । उसने मध्यदेश की रमणियो को विचित्रवेषा, शुचि, कर्मदक्षा एव सुशीलिनी आदि कहा है । इन समस्त प्रसगो की सारिणी देना यहाँ न तो बहुत उपयोगी ही होगा न उचित ही । आशय केवल यह है कि मध्यदेश की एक सांस्कृतिक इकाई के रूप मे स्पष्ट कल्पना मध्यकाल मे दिखाई देती है ।

ईसवी सोलहवी शताब्दी का मध्यदेश सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख महाकवि केशवदास का है । केशवदास ने न केवल मध्यदेश का स्मरण किया है, वरन् भारतभूमि की सांस्कृतिक परम्परा मे जो कुछ भी श्रेष्ठ है उसको इसी मध्यदेश मे निहित माना है ।

केशवदास

बेतवा मे उन्हे गगा की पावनता दिखाई दी, यहाँ के

* हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ ४५ तथा ८७

नागरिको की भाषा, धर्म, वेशभूषा सभी का उनके द्वारा अभिनन्दन हुआ। कविप्रिया (सन् १६००—१६०१ ई०) मे केशवदास ने लिखा—

आछे आछे असन, बसन, बसु, बासु, पसु,
दान, सनमान, यान, बाहन बखानिये।
लोग, भोग, योग, भाग, बाग, राग, रूपयुत,
भूषननि भूषित सुभाषा मुख जानिये।
सातो पुरी, तीरथ, सरित सब गगादिक
केशोदास पूरण पुराण गुन गानिये।
गोपाचल ऐसे गढ, राजा रामसिह जू से,
देशनि की मणि, महि मध्यदेश मानिये।

केशवदास ने मध्यदेश को 'देशो की मणि' कहा है। उन्होने उसके निवासियो के मुख मे 'सुभाषा' का वास बतलाया है। परन्तु उनके द्वारा मध्यदेश की सीमाएँ नही दी गयी, केवल यह सकेत किया गया कि उसके अन्तर्गत बुन्देला रामसिह का राज्य है और गोपाचल जैसा गढ़ है। इस 'सुभाषा' से उनका क्या आशय था और उत्तर मे गोपाचल तक जाकर ही वे क्यो रुक गये, ये दोनो बाते ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम मे तो मध्यकाल के भाषा के केन्द्र का रहस्य छिपा है और दूसरे मे छिपा है मध्यकाल के उन विचारको के रोष का रहस्य जो भारत भूमि और हिन्दू सस्कृति को नष्ट होने से बचाना चाहते थे। मध्यदेश की परम्परा के प्रसग मे इस दूसरे प्रसग पर विचार करना उचित नही। यहाँ केशवदास की सुभाषा पर ही विचार करेंगे।

केशवदास ओड़छे के थे, यद्यपि उनके पुरखे दिल्ली के तोमरों की राजसभा मे तथा फिर अलाउद्दीन खिलजी के आश्रय मे भी कुछ समय तक रहे थे, फिर भी उनके निकट के पूर्वज ग्वालियर मे आश्रय पा चुके थे, अतएव उनकी साक्षी को पक्षपातपूर्ण कहा जा सकता है। किंतु इस सुभाषा के रहस्य का उद्घाटन आलमगीर औरगज़ेब के काश्मीर के सूबेदार फ़कीरुल्ला

फ़कीरुल्ला सैफ़खा का मध्यदेश — सुदेश

सैफखॉ ने सन् १६६६ ईसवी मे किया जब उसने मानसिह तोमर लिखित मानकुतूहल का अनुवाद फारसी मे किया। फकीरुल्ला लिखता है कि मानसिह तोमर द्वारा प्रवर्त्तित ध्रुपद के पद देशीभाषा मे लिखे जाते थे। यह इन पदो की देशीभाषा के क्षेत्र को सुदेश कहता है। इस सुदेश की सीमाओ का वर्णन करते हुए वह लिखता है "सुदेश से मतलब है ग्वालियर से, जो आगरा के राज्य का केन्द्र है और जिसके उत्तर मे मथुरा तक, पूर्व मे उन्नाव तक, दक्षिण मे ऊ ज (?) तक तथा पश्चिम मे बारां तक है। भारतवर्ष मे इस बीच की भाषा सबसे अच्छी है। यह खड भारत मे उसी प्रकार है जिस प्रकार ईरान मे शीराज*।"

फकीरुल्ला अपने कट्टर मालिक के समान ही हिन्दुओ का अत्यधिक विरोधी था और उन कटु उद्‌गारों को उसने मानकुतूहल के अनुवाद मे भी यत्रतत्र प्रकट किया है। वह इस्लाम, फारस और फारसी का हिमायती था। उसने मध्यदेश की तुलना की है हाफिज और शेखसादी की जन्म-स्थली शीराज से। फकीरुल्ला को न मध्यदेश से लगाव था न ग्वालियर से। ग्वालियर दी दुर्दशा का कारण तो मुगल ही थे। उनके द्वारा गोपाचल गढ का उपयोग शाही कैदखाने के रूप मे किया गया था। फिर जब फकीरुल्ला इस प्रकार के कथन करता है तब निश्चय ही वह अपने समय के सर्वमान्य तथ्य को प्रकट करता है यह मानना पडेगा। उसके साक्ष्य पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसके समय (सन् १६६६ ई०) तक मध्यदेश और उसमे भी ग्वालियर की भाषा को टकसाली माना जाता था तथा केशवदास ने जब यहॉ के निवासियो को सुभाषा युक्त कहा तब पक्षपात की बात नही कही थी। असन, बसन, भूषण आदि की श्रेष्ठता का कथन कर केशवदास ने मध्यदेश के भारत के सांस्कृतिक केन्द्र होने की ओर जो सकेत किया है उसकी निर्विवाद पुष्टि भी फकी-रुल्ला द्वारा की गयी है।

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : मानसिह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६१।

बीकानेर के राजा अनूपसिंह (सन् १६७४-१७०१) के आश्रित भावभट्ट ने अनूपसंगीतरत्नाकर नामक संगीत का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें मध्यदेश के ध्रुपद का उल्लेख है। ईसवी अठारहवीं शताब्दी में लिखे गये इस ग्रन्थ का ध्रुपद सम्बन्धी यह उल्लेख इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसको पूरा हम आगे उद्धृत करेंगे। इससे मध्यदेश, मध्यदेश की भाषा, उसके संगीत तथा साहित्य की परम्परा पर विशेष प्रकाश पडता है। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि ईसवी सत्रहवीं शताब्दी के संगीत-ग्रन्थों में मध्यदेश और उसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ स्पष्ट रूप से मान्य थीं।

भावभट्ट

सन् १६४३ ई० में मध्यदेश के एक निवासी बनारसीदास जैन ने अपना आत्मचरित्र अर्धकथानक नाम से लिखा था। उसमें मध्यदेश का उल्लेख करते हुए उसने लिखा—

बनारसीदास जैन

याही भरत सुखेत में मध्यदेश शुभ ठाउ।
बसे नगर रोहितिगपुर, निकट बिठौली गाउ॥

बनारसीदास आगे आगरा, मेरठ आदि स्थानों में भी रहे, अतएव उनका मध्यदेश से आशय इन्हीं प्रदेशों से होगा।

बुन्देला महाराज छत्रसाल (सन् १७३१ तक) के प्रताप का वर्णन करते हुए किसी अज्ञात कवि ने जो पद्य लिखा था, उसे आज तक लोग भूल नहीं सके हैं। उसने लिखा है—

बुन्देलों का क्षेत्र

इत जमना उत नर्मदा,
इत चम्बल उत टौंस।
छत्रसाल सौं लरन की,
परी न काहू हौस।

यह छत्रसाल के प्रभाव-क्षेत्र का ही वर्णन नहीं है, इसमें उस सांस्कृतिक इकाई का भी उल्लेख निहित है जिसकी सीमाएँ मनुस्मृति से फकीरुल्ला के समय तक बहुत कुछ सुनिश्चित थीं। इस पद्य में वह सीमा कुछ संकुचित कर दी गयी है, क्योंकि इसका मूल उद्देश्य

छत्रसाल की तलवार की धाक की सीमाओ का उल्लेख करना मात्र था।

अफगानो और मुगलो का सर्वग्रासी शासन जिस मध्यदेश की परम्परा को छिन्नभिन्न न कर सका, उसे अग्रेजों के समय मे नष्टभ्रष्ट कर दिया गया। पिछले मुगलो के समय मे ही मध्यदेश के बहुत बडे अ श पर मराठो का राज्य हो गया। राजपूतो के राज्य अत्यन्त सकुचित दायरो मे स्थापित हो गये। अग्रेजो के राज्य-काल मे उनके द्वारा जो प्रान्त रचना हुई, वह किसी सास्कृतिक आधार पर न होकर सैनिक एव शासकीय सुविधाओं को देखकर हुई। इस प्रकार मध्यदेश के कुछ अ श उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश मे समा गये, उसके बहुत बड़े अ श पर सिन्धिया और होल्कर का कब्जा हो गया, भोपाल मे नवाब की हुकूमत हुई और सैकड़ो राजपूतो के राज्य यत्रतत्र बन गये। परिणाम यह हुआ कि यह सोचना भी कल्पनातीत हो गया कि आज छिन्नभिन्न रूप मे उध्वस्त यह भू-भाग कभी एक सुदृढ़ सास्कृतिक इकाई था तथा यहाँ की सास्कृतिक परम्पराएँ समस्त भारत को प्रकाश देती थी।

मध्यदेश का विघटन

इस विषय के राजनीतिक अथवा प्रादेशिक पहलू से हमारा यहाँ उतना सम्ब ध नही है, जितना हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के इतिहास से है। मध्यदेश की परम्परा के ओझल हो जाने के कारण हिन्दी के विकास की परम्परा के निरूपण मे भी कुछ विचित्र भ्रान्तिया फैल गयी। परवर्ती राजनीतिक परिवर्तनो का प्रभाव सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन पर कितना व्यापक होता है, उसका प्रमाण मध्यदेश का इतिहास है। मध्यदेश और उसके मध्यकालीन केन्द्र ग्वालियर द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण मे—सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, तथा स्थापत्य को नवीन दिशाएँ देने मे जो योगदान दिया गया, मध्यदेश के साथ ही आज का इतिहासज्ञ उसे भी भूल गया। जहाँ की भाषा एक प्रदेश की भाषा के रूप मे विकसित होकर राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रयुक्त

भाषा के विवेचन पर प्रभाव

हुई, उस भापा के, परिष्कृत काव्यभापा के, समग्र रूप पर विचार करने के स्थान पर उसने इस प्रदेश के मौलिक एकरूप को ही बुन्देलखण्डी, मारवाडी, मालवी, कन्नौजी, ब्रज आदि बोलियो के खडित रूपो मे परखने की परम्परा डाल दी । उस प्रदेश के एक कोने मे कुछ विशिष्ट कारणो से सत्रहवी-अठारहवी शताब्दी मे उस सीमित क्षेत्र की बोली को दिये गये ब्रजभाषा नाम से उसका समस्त साहित्य सम्बोधित किया जाने लगा, और यह तो अब कितनो को ज्ञात है कि इस समस्त प्रदेश की भाषा का नाम ही कभी ग्वालियरी भाषा था—समस्त भारत देश मे मान्य और प्रतिष्ठित ।

मध्यदेश और ग्वालियर

भाषा-विकास के इतिहास मे देखा यह जाता है कि बोलियों को नवीन रूप जनपदो मे मिलता है। किसी जनपद विशेष मे सास्कृतिक केन्द्र स्थापित होने पर वह बोली साहित्य का माध्यम बनने लगती है और भाषा का रूप धारण कर लेती है। हिन्दी ने अप-

भाषा का केन्द्र

भ्र श का साथ छोड़ कर जब सस्कृत-परक भाषा का रूप ग्रहण किया तब उसके विकास मे एक महत्त्वपूर्ण मोड आया था। हिन्दी भापा द्वारा यह नवीन रूप मध्यदेश मे ग्रहण किया गया था, इसके लिए विशेप तर्क और तथ्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नही है। चौदहवी शताब्दी के पूर्व हिन्दी के नवीन रूप-ग्रहण मे कन्नौज, महोबा, दिल्ली, अजमेर, जयपुर, ओडछा, नरवर आदि के साथ ग्वालियर का विशेष योग रहा। अन्य भाषाओ के विषय मे कुछ लिखना अनावश्यक है, हिन्दी के विषय मे तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसे काव्य-भाषा का रूप राजसभाओ और धामिक सस्थानो मे मिला है। इन दोनो के आश्रय मे ही मध्यकाल मे सगीत चला। सगीत के लिए प्रस्तुत हुए गेय पदों ने भाषा के स्वरूप का माजन किया। हिन्दी का विकास सगीत से ही हुआ है। इस विषय का विवेचन तो आगे करेगे, यहॉ केवल यह देखना है कि मध्यदेश मे यह भाषा-निर्माण का कार्य कहॉ हुआ अथवा किस स्थल के भाषा-प्रयोगो को परिनिष्ठित मान्य रूप मे ग्रहण किया जाता था।

इसके लिए हम पुन , फकीरुल्ला ने सुदेश अथवा मध्यदेश की जो परिभाषा की है, उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते है। इसमे

फकीरुल्ला ने मध्यदेश का सांस्कृतिक केन्द्र ग्वालियर माना है। इस सूत्र को पकडकर पाँच-छह शताब्दियों के ग्वालियर सम्बन्धी उल्लेखो पर विचार करने पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले जा सकते हैं। यह कार्य सरल नहीं है। सबसे बडी कठिनाई यह है कि हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य का बहुत बड़ा अंश नष्ट हो गया है। जो शेष बचा है, उसमे से भी प्रकाशित तो सम्भवत एक शतांश भी नहीं हुआ, सब हस्तलिखित रूप मे ही पड़ा है। इस महासमुद्र मे से एक स्थान पर बैठ कर कोई भी अन्वेषण कर सकना सम्भव नही। परन्तु जो कुछ उल्लेख अभी तक हमारी दृष्टि मे आ सके है, वे एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है।

फकीरुल्ला का सूत्र

अजमेर के नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासो की रचना सन् ११५५ ई० मे की थी*। उसमे प्रसगवश ग्वालियर का उल्लेख किया गया है। नरपति नाल्ह ने अपने चरितनायक बीसलदेव की रानी के मुख से कथन कराया है—

बीसलदेव रासो

पूरब देश को पूरब्या लोक।
पान फूला तरणउ लहइ भोग ॥
कण सचई कुकस भखई।
अति चतुराई राजा गठ ग्वालेर ॥
गौरडी जैसलमेर की।
भोगो लोक दक्षिण को देस ॥

नरपति ने 'पूरब' अथवा 'दच्छिण' के लिए जो कहा है, वह यहाँ अप्रासगिक है। केवल उल्लेखनीय यह है कि बारहवी शताब्दी का यह गायक ग्वालियर की चतुराई से प्रभावित था।

हर्ष के साम्राज्य की राजधानी कन्नौज थी, परन्तु उसके साम्राज्य मे

* सत्यजीवन वर्मा बीसलदेव रासो, पृष्ठ ६।

भी ग्वालियर का महत्त्व कम नही था। उस साम्राज्य की सांस्कृतिक परम्पराओं को ग्वालियर मे आत्मसात किया गया था। हर्ष के साम्राज्य के विघटन के पश्चात अनेक शक्तियाँ मध्यदेश मे उदय-अस्त होती रही। उन राजशक्तियो मे महोबा-कालेजर के चन्देल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके द्वारा साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे बहुत ऊँचे मान स्थापित किये गये। ग्वालियर पर चन्देलों का राज्य बहुत समय तक रहा। ईसवी दसवी शताब्दी मे यशोवर्मन चन्देल के पुत्र धग की राज्यसीमा मे मध्यदेश का लगभग सभी भूभाग आगया था। उसमे बेतवा के किनारे स्थित भेलसा से कालिजर तक तथा यमुना से चेदि तक का भूप्रदेश था। इसमे ग्वलियर भी था। धग के सन ९५३ ईसवी के एक शिलालेख* मे यह सीमा दी हुई है और उसमे ग्वालियर को 'विस्मय निलय' कहा गया है। आगे परमार्दिदेव (सन् ११६५ ई०) के राजकवि जगनायक या जगनिक ने अपने आल्हखड मे ग्वालियर का उल्लेख कुछ इसी भाव से किया है। चंदेलो के राज्य मे केवल दो ही स्थान ऐसे थे जिनकी माँग कोई कर सकता था, एक तो कालिजर का किला और दूसरा ग्वालियर की बैठक। जगनिक ने आल्हखण्ड मे लिखा—

जगनायक

किला कालिजर को मागत है,
बैठक मागै ग्वालियर क्यार।

सुदृढ़ रूप से जमकर राज्य किया जा सके इसके लिए कालिजर गढ आवश्यक था और सगीत-काव्य का रसपान किया जा सके, इसके लिए ग्वालियर की बैठक आवश्यक थी।

ईसवी तेरहवीं और चौदहवी शताब्दी तक दिल्ली, कालिजर और कन्नौज सभी आपस मे लडझगड कर और अन्ततोगत्वा मुसलमानों की अदम्य शक्ति से टकराकर छिन्नभिन्न हो गये। इन विपत्तियो

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ २८।

के बीच ग्वालियर के तोमर और गढकुंडार-ओडछा के बुन्देले स्वतत्र अथवा अर्ध स्वतत्र रूप मे अपना अस्तित्व बनाए रहे।

तामर और हिन्दी

ग्वालियर मे नवस्थापित तोमर राज्य को पूर्ववर्ती प्रतिहार, परमार, चन्देल, बुन्देल, कछवाहा तथा चौहान आदि राजपूतों की सांस्कृतिक परम्पराएँ मिली, साथ ही जैन साधुओ के सम्पर्क से उनके द्वारा किये गये सास्कृतिक विकास से भी उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। तोमरों का संधि-विग्रह का सम्बन्ध जौनपुर, दिल्ली तथा मांडू के सुल्तानो से भी रहा। इस प्रकार इनके समय मे ग्वालियर साहित्य, सगीत तथा कलाओ का केन्द्र बन गया। जैनो द्वारा अपभ्रंश की परम्परा इनके दरबार मे पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त तक चलती रही। उसके माध्यम से अपभ्रंश का अत्यन्त समृद्ध दोहा साहित्य तथा स्वयभू एव पुष्पदन्त जैसे महाकवियों की रचनाओं से ग्वालियर का सपर्क हुआ। अनेक शैव एव वैष्णव पडितों ने संस्कृत के साहित्य को पोषित किया, सुल्तानों के सम्पर्क ने उनके सगीत और साहित्य को विशद दृष्टिकोण दिया। जो कार्य समस्त मध्यदेश मे भाषा के निर्माण का विभिन्न माध्यमों से प्रारम्भ हुआ था, उसे अत्यन्त परिष्कृत रूप तोमर-सभा मे मिल सका। इस साहित्यिक समृद्धि का विवेचन हम अन्यत्र करेंगे, केवल यह उल्लेख मात्र कर देना यहाँ पर्याप्त है कि ईसवी पन्द्रहवीं तथा सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे जब तक कि विक्रमादित्य तोमर का राज्य-काल समाप्त नही हुआ, ग्वालियर इतनी सांस्कृतिक ख्याति प्राप्त कर चुका था कि उसके द्वारा हिन्दी भाषा को नवीन नाम मिला और उसकी प्रतिध्वनि सुदूर दिल्ली, जैसलमेर और दक्षिण मे अठारहवी शताब्दी के अन्त तक सुनाई देती रही।

दक्षिण मे हिन्दी जिस प्रकार पहुँची, इसके विषय मे भी आगे विचार करेंगे, यहाँ केवल दक्षिण के प्रसिद्ध कवि वजही के ग्वालियर सम्बन्धी उल्लेखो पर विचार करना है। वजही ने सन् १६०० ई०

के लगभग अपना गद्यकाव्य 'सबरस' लिखा था। जिस समय तक उत्तर भारत मे गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास राम-कृष्ण काव्य की गगा-यमुना प्रवाहित कर चुके थे और मुगल दरबार के नौरतनों की जगमगाहट समस्त भारत मे अपनी ज्योति फैला चुकी थी, उस समय वजही को स्मरण रहा उत्तर भारत का ग्वालियर। वजही ने लिखा—

वजही

"तमाम मुसहिफ का माना अलहम्दलिल्ला मे है मुस्तकीम और तमाम अलहम्दलिल्ला का माना बिस्मिल्लाह् मे है और तमाम बिस्मिल्लाह् का माना बिस्मिल्लाह् के नुक्ते मे रक्खा है करीम, समज देक खातिर लिया अताले हदीस बी यूँ आया है अल इल्म नुक्ते व कसरहा जुहाल याने इल्म एक नुक्ता है, जाहिलॉ ने उसे बदे, जहालत को इस हद लेकिन लिया है होर फारसी के दानिशमन्दॉ जिनो समजते है बातॉ के बन्दॉ उनों कूँ भाया है, उनों मे बी यूँ आया है, आजा के कसस्त, इक हर्फ बसस्त। होर गवालियर के चातरॉ, गुन के गुराँ उनो बी बात को खोले हैं के एक ही अच्छर पढ़े सो पण्डित होय*।"

श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'सबरस' की एक दूसरी प्रति से कुछ दोहे उद्धृत किये हैं†। एक स्थान पर वजही ने लिखा है —

होर ग्वालेर के चातुरा गुन के गुरा यो बोले है —

पोथी थी सो खोटी भई, पण्डित भया न कोय।
एकै अक्छर प्रेम का, पढै सु पण्डित होय।।

दूसरे स्थान पर उसने लिखा है :—

होर ग्वालेर के सुजान, यो बोलते हैं जान

---

* श्रीराम शर्मा दखिनी का पद्य और गद्य, पृष्ठ ४०३।

† राहुल साकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५१, पृष्ठ १६७।

दोहरा

धरती म्याने बीज धर, बीज बिखर कर बोय ।
माली सीचे सिर घडा, रुत आए फल होय ॥

तीसरे स्थान पर वह फिर लिखता है —

जहा लगन ग्वालेर के है गुनी, उनो ते बी यो बात गई है सुनी —
जिनको दरसन इत्त है, तिनको दरसन उत्त ।
जिनको दरसन इत नही, तिनको इत्त न उत्त ॥

इसके अतिरिक्त और दोहो के सम्बन्ध मे ग्वालियर का नाम वजही ने नही लिया, परन्तु उनकी भाषा वही है जो ऊपर के दोहों की है —

सात सहेली एक पिउ चउधर पिउ पिउ होय ।
जिन पर पिउ का प्यार है, सो धनि बिरली कोय ॥
सीउ सत्त न छाडिये सत छोडे पत जाय ।
लछमी सत की दासि है, पग लगै कर आय ॥

इस्लाम का कट्टर प्रचारक वजही इन उद्धरणों मे ग्वालियर के चतुरों, गुणो के गुरुओ की वाणी को इस्लाम के अत्यन्त मान्य ग्रन्थ हदीस के समान ही प्रामाणिक मानता है, वह भी उस समय जब ग्वालियर मे कुछ अधिक शेष नही रह गया था। इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। उत्तर के फकीरुल्ला और दक्षिण के वजही को ग्वालियर से लगाव होने का कोई कारण नहीं हो सकता था। इसका कारण था ग्वालियर की चार शताब्दियों की भारतीय साहित्य और सगीत की सेवा, जिसके कारण वह उस समय राजनीतिक महत्त्व खोकर भी सांस्कृतिक केन्द्र माना जाता था। वजही ने सबरस मे 'गवालियर के चातुरां गुन के गुरा' का स्मरण सुजान तथा गुणी के रूप मे किया है और उनके दोहो को प्रमाण रूप मे दिया है। वास्तव मे यह स्तवन ग्वालियर का न होकर उस शालीन सांस्कृतिक वैभव का है जिसके रूप मे पूर्व-मध्यकालीन मध्यदेश ने भारत की श्रेष्ठतम परम्पराओ का रूप-निर्माण कर चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी के ग्वालियर को आगे

बढ़ाने के लिए दे दिया था। ग्वालियर ने उसे परिष्कृत हिन्दी भाषा द्वारा दोहे, चौपाई, गेय पद आदि के रूप मे निखार दिया।

यहाँ हम किसी प्रदेश या नगर विशेष की प्रशस्ति लिखने नही बैठे हैं। मध्यदेश और ग्वालियर के अनेक उल्लेखो मे से कुछ हमने इस आशय से प्रस्तुत किये है कि हिन्दी के मध्यकालीन विकास की धारा के प्रवाह का मार्ग मिल सके और वह कारण भी प्रत्यक्ष हो सके जिसके आधार पर अनेक शताब्दियो तक हिन्दी का नाम ही ग्वालियरी भाषा रहा और उसे वह समर्थ रूप मिला जो समस्त भारत मे फैल सका और जिसमे सूरदास के सूरसागर, तुलसीदास के राष्ट्र-प्रेरक जीवन-साहित्य तथा केशवदास के पाडित्यपूर्ण ग्रन्थो की रचना सम्भव हो सकी और मिल सके बिहारी जैसे रससिद्ध कवि।

ग्वालियरी भाषा

हिन्दी की प्राचीन नाम परपरा

संस्कृत, पाली और प्राकृत के पश्चात ईसवी सातवी शताब्दी मे जिस काव्य-भाषा का विकास होना प्रारभ हुआ उसे सस्कृत के विद्वानों ने अपभ्र श कहा, क्योकि न तो वह सस्कृत के व्याकरण को ही मानती थी और न किसी भी दशा मे एक भी तत्सम शब्द के प्रयोग को स्वीकार करती थी। सस्कृत के पंडितों की दृष्टि मे उसके इस अतिभ्रष्ट रूप को देखकर ही उसे अपभ्र श नाम दिया गया। अपभ्र श के कवियों ने इसे देशी भापा कहा है। अपभ्र श के महाकवि स्वयभू (७६० ई०) ने लिखा है —

अपभ्रश और देशी भाषा

देसी भासा उभय तडुज्जल । कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल ॥

विद्यापति ने कीतिलता की अपभ्रंश-मिश्रित लोक-प्रचलित भाषा का नाम अवहट्ठ दिया है —

अवहट्ठ

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जपओ अवहट्ठा ॥

देशी भाषा सब को मीठी लगती है, इसलिए इस देशी भाषा मे उसे अपभ्र श-अवहट्ठ नाम देकर विद्यापति ने कीर्तिलता लिखी। काव्य-भाषा के रूप मे उसका विस्तार उत्तरापथ मे मुल्तान, गुजरात, मध्यदेश, बिहार तथा बगाल मे था। अपभ्र श के इन कवियों ने दक्षिणापथ मे बैठकर अपने महाकाव्यों की रचना की। इन रचनाओं की भाषा को कुछ विद्वान हिन्दी ही मानते हैं और कुछ हिन्दी का पूर्व रूप*। यह बात निश्चित है कि हिन्दी भाषा अपने व्याकरण के नियम सस्कृत, पाली और प्राकृत से न लेकर इस देशी भाषा या देशी वाणी से लेती है।

---

* राहुल साकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका पृष्ठ ६।

इस देशी भाषा—अपभ्रंश से विकसित होकर जिस भाषा का रूप-निर्माण प्रारम्भ हुआ, उसे व्यापक रूप से 'भाषा' कहा गया। जो रचना सस्कृत मे नही, वह भाषा की रचना है। अपनी वाणी सर्वसाधारण तक पहुँचाने की जिस इच्छा के कारण पाली, प्राकृत एव अपभ्रंश मे रचनाएँ प्रारम्भ हुई थी, उसी प्रवृत्ति के कारण इस 'भाषा' मे रचनाएँ प्रारम्भ हुईं। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के निर्माताओं की दृष्टि अब देववाणी सस्कृत की ओर फिर गयी थी, अत संस्कृत मे अपने ग्रथ न लिखने की उनके द्वारा सफाई भी दी गयी। ग्वालियर के गोस्वामी विष्णुदास (१४३५ ई०) ने अपने रुक्मिणी मगल मे लिखा—

भाषा

तुछ मत मोरी, थोरी सी, बौराई, भाषा काव्य बनाई।

गोस्वामी तुलसीदास (१५७४ ई०) ने रामचरित मानस मे लिखा—

भाषा भनित मोर मति भोरी। हँसिवे जोग हँसै नहि खोरी॥

केशवदास को तो भाषा-कवि कहलाने मे घोर परिताप हुआ। अपनी कविप्रिया (१६०० ई०) मे वे लिखते है—

भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास॥

विष्णुदास, केशवदास और तुलसीदास के ये उद्‌गार ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के पश्चात सस्कृत की ओर बढ़ते हुए आकर्षण पर प्रकाश डालते है। ये कवि रचना देशी भाषा मे करते थे, परन्तु इनकी दृष्टि मे आदर्श वह वाणी थी जो अब केवल देववाणी रह गयी थी, जन साधारण मे से उसका प्रचार उठ चला था।

भारत मे जब मुसलमान आए और उन्हे अपनी धर्म-भाषा अरबी-फारसी छोड कर इस देश की भाषा मे रचनाएँ करनी पड़ी, तब उन्हे भी एक प्रकार का असमजस हुआ था। संस्कृत के हिमायती हिन्दू साहित्यकारों द्वारा जन-भाषा को दिया गया 'भाषा' नाम, उनकी विवशता की भावना के साथ-साथ इन मुसलमान लेखकों को भी मिल गया,

अतएव इन्होने इसे प्रारम्भ मे 'भाषा' ही कहा है। जायसी (१५२७ ई०) ने लिखा है —

आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥

शेख निसार (१७६० ई०) ने अपने प्रेमाख्यान यूसुफ-जुलेखा मे लिखा है* —

सब भाषा मह कथा सोहाई। वरनन भाति-भाति करवाई॥
इबरी औ अरबी सुरबानी। पारस और तुर्की मिसरानी॥
भापा मा काहू ना भाखा। मौरे अस दइब लिखि राखा॥
सो अब कथा कहौ चितलाई। जेहि तन मोख मुकुति होइ जाई॥

जिस प्रकार केशवदास के लिए सस्कृत देवभापा थी, उसी प्रकार शेख निसार के लिए हिब्रू और अरबी देवभाषाएँ थी। इसी कारण आगे इन सूफी सतों ने भी 'भापा' मे रचना करने की सफाई दी। नूरमुहम्मद (१७४४ ई०) ने लिखा —

का जौ अहइ हिन्दुई भाषा। उत्तम भेद बहुत मै राखा॥

वाणी तो वह ही है जिसे हिन्दू 'भापा' कहते हैं, परन्तु भावना दूसरी है। यह तथ्य समझने मे कोई भ्रम न हो जाय, इसलिए उसने यह भी लिख दिया† —

जानत है सब सिरजन हारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू मग पर पाव न राखेऊ। का जौ बहुतै हिन्दी भाषेऊ॥
मन इसलाम मसलकै माजेऊ। दीन जेवरी करकस भाजेऊ॥

मध्यदेशीया अपभ्रंश

हिन्दुओ के लिए सस्कृत-सापेक्ष तथा मुसलमानो के लिए अरबी-फारसी-सापेक्ष इस 'भाषा' नाम के अतिरिक्त मध्य-कालीन हिन्दी की एक दूसरी नाम-परपरा भी है, जिसका सम्बन्ध हिन्दी के अपभ्रंश से विकसित होने

---

* गणेशप्रसाद हिन्दी प्रेमाख्यानकाव्यसग्रह, पृष्ठ ३३३।

† चन्द्रबली पाडे अनुराग बासुरी, पृष्ठ ५।

के ऐतिहासिक तथ्य से है। ई० ७७८ मे रचित कुवलयमाला मे 'मध्यदेशीया' नामक एक अपभ्रंश का उल्लेख है। प्राकृत- सर्वस्व और प्राकृत-चन्द्रिका मे भी यह नाम आता है।

मध्यदेश की भाषा— बनारसीदास जैन

श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि कुवलयमाला मे निर्दिष्ट मध्यदेश की भाषा से हिन्दी भाषा का उद्गम हुआ ज्ञात होता है*। नाहटा जी के मत की पुष्टि एक अन्य तथ्य से भी होती है। हिन्दी के लिए यह 'मध्यदेश की भाषा' नाम ईसवी सत्रहवी-अठारहवी शताब्दी तक मिलता है। ई० १६४३ मे रचित 'अर्ध कथानक' मे बनारसीदास जैन ने लिखा है†.—

मध्यदेश की बोली बोलि। गर्भित बात कहौ जी खोलि॥

'मध्यदेश की बोली' नाम अपने साथ उस मध्यदेशीया अपभ्रंश की परंपरा को लिये हुए है जिसका उल्लेख कुवलयमाला मे किया गया है। हिन्दी के मध्यदेश मे ही रूप ग्रहण करने की द्योतक यह परम्परा

भावभट्ट

ईसवी अठारहवी शताब्दी तक मिलती है। बीकानेर के संगीत शास्त्र के पंडित भावभट्ट ने लगभग सन् १७०० ईसवी मे अपने ग्रंथ अनूपसंगीतरत्नाकर की रचना की और उसमे ध्रुपद का लक्षण लिखते हुए उसने कहा है.—

गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम्।

ध्रुपद का जन्म ग्वालियर मे हुआ था और उसके पदों मे प्रयुक्त मध्यदेशीय भाषा को भी परिष्कृत काव्य-भाषा का रूप इन्ही ध्रुपद के पदों मे मिला था, इसका विवेचन हम आगे करेंगे। भावभट्ट के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि उसके समय तक मध्यदेश तथा उसके संगीत,

---

* राजस्थान मे हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, द्वितीय भाग पृष्ठ २।

† नाथूराम प्रेमी . अर्धकथानक, पृष्ठ २।

भाषा एव साहित्य अपना पृथक निजत्व लिये हुए थे। हिन्दी अपने मूल नाम मध्यदेशीय भाषा को भी ग्रहण किये रही।

अपभ्र श से देश-भाषाओ के विकसित होने के इतिहास मे शौरसेनी अपभ्र श का महत्त्व प्रत्यक्ष है। शौरसेनी अपभ्र श को ही हेमचन्द्र सूरि ने अपने व्याकरण मे प्रधान स्थान दिया है। यह शौरसेनी मूल मे किस प्रदेश की जनवाणी थी, यह बात महत्त्वपूर्ण नही। हेमचन्द्र के समय तक उसे व्यापक काव्य-भाषा का रूप मिल गया था। शौरसेनी से ही आगे गुजराती, सिन्धी, मारवाड़ी*, हिन्दी, पजाबी एव पहाड़ी भाषाओं का विकास हुआ†। इस शौरसेनी के विस्तृत क्षेत्र मे ही मध्यदेश स्थित था और उसी का एक रूप मध्यदेशीया अपभ्र श थी जो आगे चलकर हिन्दी के रूप मे विकसित हुई। ईसवी अठारहवी शताब्दी मे इस ऐतिहासिक परम्परा का भी स्मरण रखा गया। पूना के पेशवाओं के अधीन शिन्दे राज्य का उत्तरभारत मे विस्तार करने वाले माधवराव प्रथम, महादजी शिन्दे, (१७३२-१७९४ ई०) ने हिन्दी मे पद रचना की थी। मथुरा नगर महादजी का अत्यन्त प्रिय वासस्थान था‡। वे परम कृष्णभक्त भी थे। उनका पदसग्रह 'माधव विलास' के नाम से मिला है। इसकी पुष्पिका मे लिखा है —

शौरसेनी भाषा

"इति श्रीमन्महीन्द्र माधवराव सावभौम विरचित शौरसेनी भाषायां श्रीकृष्णजन्मोत्सव वर्णन परिपूर्ण"¶।

इस प्रकार हम देखते है कि अपभ्र श, अवहट्ठ, भाषा, देशीभाषा, मध्यदेशीय भाषा तथा शौरसेनी भाषा नाम हिन्दी के विकास के

---

* कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, पृष्ठ १२।

† डॉ० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ४८।

‡ डॉ० सत्येन्द्र ब्रज-लोक-सस्कृति, पृष्ठ १६४।

¶ भा० रा० भालेराव द्वारा सपादित, पृष्ठ ६।

प्रारभिक इतिहास की व्यजना करते हैं। इस इतिहास की स्मृति पडितों मे अठारहवी शताब्दी तक स्पष्ट दिखाई देती है।

ग्वालियरी भाषा

अत्यन्त आधुनिक काल मे भी सस्कृत अथवा फारसी के पडित इन नामो का व्यवहार करते दिखाई देते हैं। हिन्दी भाषा का इतिहास यह बतलाता है कि प्राकृत-अपभ्र शों की छाया से हिन्दी ईसवी ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी तक मुक्त हो चली थी। उसके पश्चात इसके उस रूप का निर्माण प्रारभ हो गया था जो सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण मे ही उन महान काव्यों का माध्यम बना, जिनके कारण हिन्दी गौरवान्वित हुई। हिन्दी को यह रूप पन्द्रहवी शताब्दी मे ग्वालियर मे किस प्रकार मिला इसका विवेचन हम आगे करेंगे। हिन्दी की पर्परा की खोज मे हिन्दी का "ग्वालियरी भाषा" नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले "मध्यदेश और ग्वालियर" के प्रसग मे हम यह दिखा चुके है कि मध्यदेरा का सास्कृतिक केन्द्र—साहित्य और भाषा का केन्द्र ग्वालियर समझा जाता था। उसके द्वारा निर्मित हिन्दी का नाम भी "ग्वालियरी भाषा" था।

भावभट्ट जब ध्रुपद के पदो की भाषा को मध्यदेशीय भाषा कहता है, तब वह यह व्यजना भी कर देता है कि यह भाषा ग्वालियर मे बनी, परन्तु उसने ग्वालियरी भाषा का उल्लेख नही किया। इसके स्पष्ट उल्लेख अन्यत्र मिलते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा के सग्रह मे

ग्वालियरी का गद्य-हितोपदेश

हितोपदेश के एक गद्यानुवाद की तीन प्रतियाँ है*। उसके कुछ पृष्ठो की प्रतिलिपि कराकर नाहटा जी ने हमारे पास भेजी है। श्री नाहटा जी का मत है कि वह विक्रमी पन्द्रहवी शताब्दी (ई० १५ वी शताब्दी के अन्त अथवा १६ वी शताब्दी के आरम्भ) की रचना है। इस ग्रन्थ मे उसके रचयिता का नाम

---

* विशेष विवरण के लिए देखिए श्री अगरचन्द नाहटा ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रथ, भारती, मार्च १९५५, पृष्ठ २०८।

धाम अथवा उसका रचना-स्थान नही दिया गया। इसकी एक प्रति के अन्त मे लिखा हुआ है —

"इति श्री हितोपदेश ग्रन्थ ग्वालेरी भाषा लबध प्रगासेन नाम पचमो आख्यान हितोपदेश सपूर्ण।"

दखिनी के वजही ने ग्वालियर के चतुरों की प्रसशा की, उनकी वाणी को भी प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया और उसके मन मे जो वाणी घर कर गयी थी, उसका रूप भी उसने कुछ दोहे उद्धृत करके हमे दिखा दिया, परन्तु उस वाणी का प्रचलित नाम उसने नही दिया। वह जिस नाम-परम्परा मे उलझा हुआ था, उसका विवेचन आगे किया गया है। दक्षिण भारत मे ही ग्वालियर के चतुरो की वाणी का नाम हमे वजही के एक-डेढ शताब्दी पश्चात के एक उल्लेख मे मिल गया है। नाभादास जी ने अपनी भक्तमाल की रचना सन् १५८५ ई० मे की थी। इसकी टीका प्रियादास जी ने सन् १७१० ई० (वि० स० १७६७) मे की। नाभादास के मूल ग्रन्थ और प्रियादास की टीका का मराठी अनुवाद 'भक्त-रत्नावली' नाम से किसी नाना बुआ केन्दूरकर ने पश्चिम खानदेश मे स्थित अमलनेर मे किया है। यह हस्तलिखित ग्रथ ग्वालियर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव के सग्रह मे है। उसमे केन्दूर-कर बुआ ने भाषा के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, वह इस प्रसग मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते है —

दक्षिण मे ग्वालियरी

"आता सद्गुरू कृपे करून श्री नाभा जी कृत भक्तमाल अग्रदास कृपे करून ग्वाल्हेरी भाषेत मूल छप्पै नाभा स्वामी म्हणजे नारायणदास यांनी गाइले आहेत। त्याचा वरदहस्त श्री प्रियादास चैतन्य याजवर होऊन त्यांनी हिन्दुस्थानी भाषेत कवित्ते गाईलीं। तो अर्थ गूढ भोले भाले भक्त यांचे समजण्यात दक्षिणी भाषेत येईना तेव्हां दयावत भक्तवत्सल श्री रामानुज साम्प्रदायी श्री गोविन्दाचार्य सस्थान अमलनेर यांजला करुणा येऊन नाना बुआ नारायण साम्प्रदायी यांस आज्ञा झाली कीं जगाचा उद्धार व्हावा

असा भाव स्वल्प पिशाच्च लिपीत करून सर्व जगाचा उद्धार करावा तेन्हां नाना बुआ हे श्री नारायण कृपेने पूर्ण च आहेत। त्याच्या कृपेने हे भक्त मालिकेचे विस्तार पिशाच्च लिपीत सर्व जगास दक्षिणी भाषेत समजावा म्हणून केला आहे।"

श्री भालेराव जी ने कृपा कर ग्रथ की मूल पैशाची लिपि (मोडी) से इनका उद्धार कर इन अशो को हमारे लिए सुलभ किया। इसमे नाभादास की भाषा को ग्वालियरी भाषा कहा है और प्रियादास की टीका की भाषा को हिन्दुस्तानी कहा गया है। ग्रन्थ के अन्त मे पुन नाभादास जी की भक्तमाल की भाषा को ग्वालियरी नाम से सम्बोधित किया गया है —

"मोरोबा अण्णा अमलनेरकर याचे शिष्य याजपासून प्रगट झाला। हे छप्पय ग्वाल्हेरी भाषेत श्री नाभाजी ने केले आहेत। त्यांज वर प्रियादास यांनी टीका केली। हे दक्षिणी लोकां करिता हा प्रताप याचा आहे।" आदि।

नाना बुआ केन्दूरकर का समय ईसवी अठारहवी अथवा उन्नीसवी शताब्दी ज्ञात होता है। सुदूर दक्षिण मे उस समय ग्वालियरी भाषा की छाप चल रही थी, यह स्पष्ट है।

नाभा जी की जन्मभूमि ग्वालियर थी

नाभादास की भक्तमाल न केवल पद्रहवी शताब्दी एव सोलहवी शताब्दी के प्रथम चरण मे ग्वालियर मे निर्मित भाषा को लिये हुए थी, वे स्वय भी ग्वालियर मे ही जन्मे थे, वजही के शब्दों मे, वे ग्वालियर के चतुरों मे थे। भक्तमाल का यह अनुवाद नाभादास जी के अनुयायी ने किया है और उसमे नाभा जी की जीवनी भी दी गयी है। उसके चमत्कारिक अश से हमे सम्बन्ध नही, परन्तु कुछ ऐसी बाते भी नाभादास जी के विषय मे इस ग्रन्थ मे लिखी है, जो अभी तक अज्ञात थीं। उन सब पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालने के लिए तो हमने श्री भालेराव जी से आग्रह किया है, हम यहाँ उसके आवश्यक अश को ही

देना उचित समझते है। इस ग्रन्थ के अनुसार नाभादास जी हनुमान वश के थे। उनका जन्म ग्वालियर मे हुआ था तथा वे अन्धे थे। जब वे पॉच वर्ष के हुए, उनके पिता का देहान्त होगया। तभी ग्वालियर मे घोर दुष्काल पड़ा*। उनकी माता उन्हें लेकर जयपुर गयी, जहॉ पास ही पर्वत पर गलता मे अग्रदास की गद्दी थी। पर्वत के नीचे घोर जगल था। दुखी माता ने बालक नाभादास को जगल मे छोड़ दिया। सयोग से कील्हदास और अग्रदास जगल मे घूमने निकले। वे उस बालक का रोना सुनकर उसके पास पहुँचे। अपने कमंडलु से

---

* यह दुष्काल कुछ दैवनिर्मित एव कुछ मानव निर्मित था। ६ जुलाई सन् १५०५ ईसवी मे आगरा-ग्वालियर मे भयकर भूकम्प आया था। इसी वर्ष अक्टूबर मास मे जब किसान कतकी की फसल तयार करने मे लगे हुए थे, सिकन्दर लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। ग्वालियर और आसपास के गावो की समस्त प्रजा पहाडो और जगलो मे भाग गयी। सिकन्दर लोदी की सेना ने जो भी व्यक्ति मिला उसे मौत के घाट उतारा तथा समस्त प्रदेश को वीरान कर दिया। विनाश और विध्वस का कार्य इतनी पूर्णता के साथ किया गया कि स्वय आक्रान्ताओ को भोजन मिलना दुर्लभ हो गया। कुछ बनजारो को जो अनाज तथा खाद्य सामग्री ले जा रहे थे, सिकन्दर ने लूट लिया, तब उसकी सेना को रसद मिल सकी। उस समय मानसिह तोमर ने उस पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर को आगरा लौटना पडा (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, भाग ३, पृष्ठ २४३)। इस प्रकार नाभादास जी का जन्म सन् १५०० ई० निश्चित होता है, क्योकि इस दुष्काल के समय (सन् १५०५) मे वे पॉच वर्ष के थे। भक्तमाल का रचनाकाल सन् १५८५ ई० माना जाता है और नाभादास जी का सन् १६०० ई० के आसपास जीवित होना भी माना जाता है। ये तिथियॉ अनुमान पर आधारित हैं, परन्तु इनको देखते हुए भी नाभादास जी का जन्म १५०० ई० मे होना असभव नही।

उसकी आँखों पर जल छिड़का । बालक ने जोर से जो आँख खोली, तो उसे दिखने लगा। वे उसे अपने साथ गलता जी ले गये और वहाँ उसे मंत्र देकर दीक्षित किया तथा साधुसेवा का कार्य दिया।

श्री भालेराव जी के संग्रह मे ही भक्तमाल की एक टीका* किसी अज्ञात लेखक की और है। इसमे भी नाभादास जी के बाल्यकाल के विषय मे उल्लेख है। इससे केन्दूरकर के उल्लेख का समर्थन होता है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

—श्री नाभा जू की आदि अवस्था—

हनूमान वंश ही मे जनम प्रसिद्ध जाकौ
भयौ द्रगहीन सो नवीन बात धारियै ।
उमर बरस पाँच मान कै अकाल आच,
माता बन छोड गई विपति विचारियै ।।
कील औ अगर ताही डगर दरस दियौ
लियौ यौ अनाथ जान पूछी सो उचारियै ।
बडे सिद्ध जल लै कमंडल सौ सीचि नैन
चैन भयौ खुले चख जोरिकै निहारियै ।।

इसमे नाभादास जी के जन्मस्थान का उल्लेख नही है। तीसरी पंक्ति के मान का अर्थ मानसिंह तोमर लगाने से श्री भालेराव को आपत्ति है। हम इनकी आपत्तिको ठीक मानकर भी 'अकाल' के उल्लेख के आधार पर यह अवश्य कह सकते है कि केन्दूरकर का कथन प्रामाणिक है। भक्तमाल की टीकाओं की समस्त सामग्री के सम्यक अध्ययन से हिन्दी साहित्य के अनेक परिच्छेदो पर पर्याप्त नवीन प्रकाश पड़ सकता है।

बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़ ने ईसवी सोलहवी शताब्दी मे

---

* संवत् १९७८ मे लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण बम्बई से भी यह टीका प्रकाशित हुई है । परन्तु उसका पाठ अत्यन्त भ्रष्ट और अप्रामाणिक है ।

'क्रिसन रुकमिणी री बेलि' नामक प्रसिद्ध पौराणिक प्रेमाख्यान डिंगल में लिखा। इसका रचना-काल कुछ विद्वान सन् १५८७ ई० मानते हैं*। पृथ्वीराज राठौड अकबरी दरबार के बडे प्रभावशाली व्यक्ति थे। महाराणा प्रताप के वे सम्बन्धी थे। उनकी इस बेलि की रचना के पचास वर्ष के भीतर ही उसके अनेक अनुवाद हो गये। कविवर समयसुन्दर के प्रशिष्य जयकीर्ति ने सन् १६२६ ई० मे इस काव्य की टीका लिखी है और अपने पूर्ववर्त्ती टीकाकारो मे किसी गोपाल की टीका का भी उल्लेख किया है†। गोपाल की इस टीका की भाषा को जयकीर्ति ने 'ग्वालियरी भाषा' कहा है —

जयकीर्ति

ग्वालेरी भाषा गुपिल मद अरथ मित भाव।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी को—मध्यकालीन मध्यदेश की काव्य-भाषा को पश्चिम और दक्षिण मे सोलहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक ग्वालियरी भाषा कहा गया।

पृथ्वीराज राठौड की बेलि की गोपाल की टीका की भाषा को जयकीर्ति ने ग्वालियरी भाषा कहा है, परन्तु स्वय गोपाल उस भाषा को ब्रजभाषा कहता है.—

ब्रजभाषा

मरु भाषा निरजल तजि करि ब्रजभाषा चोज।
अब गुपाल यातै लहै, सरस अनूपम मौज ॥

कुछ विद्वानों का मत है कि ब्रजभाषा नाम का उल्लेख अठारहवी शताब्दी से पूर्व नही मिलता‡। गोपाल का यह उल्लेख सत्रहवी शताब्दी का है। ब्रजबोली के रूप मे तो उसका अस्तित्व निश्चित ही बहुत पहले

---

* नरोत्तम शास्त्री क्रिसन रुकमिणी री बेलि, पृष्ठ ७७।

† अगरचन्द नाहटा ग्वालियरी हिन्दी का प्राचीनतम ग्रन्थ, भारती, मार्च १९५५, पृष्ठ २०८।

‡ डा० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ १७।

का है। इस विषय का विवेचन भी हमे आगे करना है। यहाँ गोपाल के इस अनुवाद के विषय मे दो बाते ही स्मरण रखना है। पहली तो यह कि यह अकबर के दरबारी और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य के काव्य की टीका है और दूसरे किसी मिरजाखान की आज्ञा लेकर यह कार्य किया गया था, जिनके द्वारा इस टीका का नाम 'रसविलास' दिया गया —

आग्या मिरजाखान की लई करी गोपाल।
बेलि कहे को गुन यहै कृष्ण करौ प्रतिपाल ॥
कवि गुपाल यह ग्रन्थ रच लायौ मिरजा पास।
रसविलास दे नाऊ उनि कवि की पूरी आस ॥

अकबर के इन मिर्जाओं को क्यों और कब से ब्रजभूमि, ब्रजराज एवं ब्रजभाषा से लगाव हो गया था इसका उल्लेख भी हम आगे कर रहे हैं। यहाँ यह समझ लेना पर्य्याप्त है कि जिस भाषा को जयकीर्ति ने ग्वालियरी भाषा कहा, उसको ही गोपाल ने ब्रजभाषा कहा है। इसके पहले कि हम ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा के रूप और रहस्य को समझने का प्रयास करे, हिन्दी को मुसलमानों के सम्पर्क से प्राप्त हुए नामो पर तथा मध्यदेश की बोली के भाषा बनकर दक्षिण मे प्रवास करने की कहानी पर दृष्टि डाल लेना उचित है।

मुसलमान और मध्यदेशीय भाषा

बोली और भाषा का अन्तर समझना किसी भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कठिन नही है। उसका सम्यक विवेचन किसी भी भाषा-विज्ञान के ग्रन्थ मे मिल सकता है। प्रत्येक जनपद अपने उच्चारण की विशेषताओं तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के

बोली और भाषा

कारण अपनी बोलचाल की भाषा मे विभेद उत्पन्न कर लेता है। परन्तु जब तक उसमे विशद काव्य-रचना होकर वह किसी एक प्रदेश मे मान्य काव्य-भाषा के रूप मे व्यवहृत नहीं होती, उसे भाषा नही कहा जाता। मध्यदेशीय भाषा जब समस्त मध्यदेश की मान्य काव्य-भाषा बन गयी, उस समय भी मध्यदेश के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक बोली-भेद रहे हैं। भारत मे बोली बारह कोस पर बदल जाती है, ऐसी मान्यता है। आज भी यदि मथुरा से नर्मदा तट तक की यात्रा की जाय, तब यह बोली-भेद स्पष्ट दिखाई देगा।

जब ईसवी दसवीं शताब्दी से हिन्दी के नवीन संस्कृत-परक रूप का निर्माण प्रारम्भ हुआ, तब भी मध्यदेश के विभिन्न कोनों मे यह बोली-भेद होगा ही। उनकी व्यापक समानताएँ ही उन्हे एक भाषा का अ ग प्रकट करती होगी। मथुरा, महोबा, अजमेर, दिल्ली और

हिन्दी के प्रारभिक केन्द्र

ग्वालियर के आस-पास बोल-चाल की बोलियाँ निश्चित ही कुछ विभिन्नताएँ लिये हुए थी। परन्तु एक व्यापक भाषा भी सगीत और काव्य के माध्यम के रूप मे निखरने लगी थी। ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व यह कार्य अजमेर, दिल्ली, महोबा और ग्वालियर मे हुआ था, ऐसा प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है। यह निश्चित है कि जिस प्रदेश के रचनाकार गेय पदों अथवा काव्यों की भाषा मे रचना करने लगे थे, वहाँ

की स्थानीय बोली से उनकी भाषा प्रभावित होती थी। पश्चिमी राजस्थान और दिल्ली के जो काव्य ग्रन्थ अभी प्राप्त हो सके है, उनकी भाषा मे जो अन्तर है, वह इसी प्रक्रिया का द्योतक है। जब महमूद गजनवी ने सन १०१७ ई० मे भारत के सिंहद्वार पर प्रथम पदाघात किया, उस समय से भारत के सांस्कृतिक संगठन मे खलबली मच गयी। उस समय भी यह प्रमाण अवश्य मिलता है कि मध्यदेश की भाषा इतनी विकसित हो गयी थी कि महमूद भी उससे आकर्षित हुआ था। महोबा के नन्द कवि की वाणी ने उस मुस्लिम सैनिक पर भी प्रभाव डाला था*। उस समय जो काव्य-भाषा बन रही थी उसका केन्द्र महोबा था। जब अजमेर और दिल्ली मे सुदृढ राजपूत राज्य स्थापित हुए, तब उनके आश्रय में भी चारण-भाटों ने रचनाएँ प्रारम्भ की। परन्तु अजमेर, दिल्ली और महोबा भी अधिक समय तक मुसलमानों के आक्रमण को सफलता पूर्वक सह न-सके। ग्वालियर और मेवाड उनके प्रभाव से अवश्य कुछ काल तक मुक्त रहे, यद्यपि उन्हे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जीवन और मरण के बीच रहना पड़ता था। महमूद गजनवी के समय से ही दिल्ली और आगरा के बीच का मध्यदेश का भाग सतत पठानो और अफगानो से पीड़ित रहा। उस बीच पश्चिम मे मेवाड और मध्य मे आज बुन्देलखंड कहलाने वाला भू-भाग भारतीय परम्पराओं को तथा मध्यदेश की भाषा के गौरव को बढ़ाता रहा।

इस काल की ऐतिहासिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि पर हम आगे विचार करे गे। अभी इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि अलाउद्दीन खिलजी के समय तक हिन्दी भाषा बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी।

खुसरो का हिन्दी-स्तवन

उसके व्यवस्थित रूप ने, उसकी भावाभिव्यजना की शक्ति एवं माधुर्य ने खिलजी तथा तुगलकों को भी आकर्षित किया था। उस रूप के निर्माण मे राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मध्यदेश के उत्तरी भाग

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ २२।

का अधिक योग नही मिल सका, मथुरा के वैभवशाली मदिरो ने मुसलमानो की लिप्सा को आकृष्ट कर लिया और वह वैभव उसके विनाश का कारण बन चुका था । महमूद के आक्रमण के समय (सन् १०१७) से अकबर के समय तक मथुरा का इतिहास अज्ञात सा है *। वहाँ बोली तो कोई उस समय भी रही होगी, परन्तु किसी भाषा के निर्माण का श्रेय तत्कालीन मथुरा-गोकुल को नही दिया जा सकता। मध्यदेश के अन्य केन्द्रो में तब तक हिन्दी ने वह रूप धारण कर लिया था जिसके विषय मे अमीर खुसरो ने लिखा है "मै भूल पर था । अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फारसी से कम नही ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबो मे मुख्य है, रई और सूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुई । अरबी अपनी बोली मे दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी मे यह एक कमी है कि वह बिना मेल के काम मे आने योग्य नहीं है । इस कारण कि वह शुद्ध है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं ।" "हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है क्यो कि उसमे भी मिलावट को स्थान नहीं है । यदि अरबी व्याकरण नियमबद्ध है तो हिन्दी मे भी उससे एक अक्षर कम नही। जो उन तीनो (भाषाओ) का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मै न भूल कर रहा हूँ और न बढकर लिख रहा हूँ । और यदि पूछो कि उसमे अधिक न होगा तो समझलो उसमे दसरो से कम नहीं है † ।" खुसरो का यह 'भाषा-स्तवन' सभव है सस्कृत से सबधित हो, परन्तु व्रजरत्नदास जी ने उसे हिन्दी के सम्बन्ध मे ही माना है‡ । निश्चय ही अमीर खुसरो ने जिस भाषा मे अरबी के समान भावव्यजना की शक्ति

---

* डा० सत्येन्द्र द्वारा सपादित' ब्रज-लोक-साहित्य, पृष्ठ १५९ ।

† ब्रजरत्नदास खुसरो की हिन्दी कविता, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सवत १९७८, पृष्ठ २७६ ।

‡ वही ।

मानी है, वह दिल्ली मेरठ की बोली, जिसे लल्लूलाल जी ने खड़ी बोली नाम दिया, नही हो सकती, क्योंकि उस समय वह काव्य-भाषा नही बन सकी थी। वह कोई सीमित-क्षेत्र की ब्रजभाषा भी नही थी, क्योंकि मथुरा-गोकुल मे अमीर खुसरो के समय कोई नाम के लिए भी सगीतज्ञ अथवा कवि नही था, और यह नाम भी हिन्दी मे खुसरो से अनेक शताब्दी बाद आया। वास्तव मे अमीर खुसरो द्वारा वन्दित भाषा वह थी जिसमे महोबा का जगनायक रचनाएँ कर चुका था, अथवा जिसमे कालिजर के कवि नन्द ने महमूद गजनवी की स्तुति की थी तथा जिसकी माधुरी का प्रभाव महमूद पर पड़ा था*, अथवा ग्वालियर तथा नरवर के कछवाहा, परिहार, जज्वपेल आदि राजाओ की राज सभाओं मे जिसमे रचनाएँ हो रही थीं अथवा जिसमे चन्दवरदायी अपना रासो लिख चुके थे। यह वही भाषा थी जिसे आगे तोमरो के समय मे ग्वालियरी भाषा नाम मिला।

अमीर खुसरो के समय की मान्य भाषा यही चारण-भाटों द्वारा निर्मित काव्य-भाषा थी, इसके प्रमाण मे मुल्ला दाऊद की प्रेम-कथा 'चन्दावन' का उल्लेख किया जा सकता है। जायसी, कुतबन, मझन आदि सूफी कवियो

मुल्ला दाऊद के 'चन्दावन' की भाषा

के प्रेमाख्यानो की भाषा और शैली देखकर आजकल अनुमान यह किया जाता है कि मुल्ला दाऊद के प्रेमाख्यान की भाषा भी अवध की बोली होगी। परन्तु वास्तविकता यह नही है। उसके उद्देश्य, विषय एव भाषा के सम्बन्ध मे अलबदाउनी ने लिखा है "मुल्ला दाऊद ने चन्दावन नामक एक हिन्दी मसनवी नूरक और चन्दा की प्रेम कहानी बड़ी सजीव शैली मे जूनाशाह के सम्मान मे लिखी। मुझे इस पुस्तक की प्रशसा मे कुछ भी नही कहना है, क्योकि दिल्ली मे यह पुस्तक स्वयं अत्यन्त प्रसिद्ध है। मखमूद शेख तकीउद्दीन वायज रब्बानी मुल्ला दाऊद की कुछ कविताएँ,

---

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ २२।

जिनमे चन्दावन भी थी, मस्जिद मे पढकर सुनाया करते थे और जनता उससे प्रभावित होती थी। एक बार शेख से कुछ लोगो ने पूछा कि आपने इस हिन्दी मसनवी को ही क्यो चुना ? शेख ने उत्तर दिया कि यह समस्त आख्यान एक ईश्वरीय सत्य है, पढने मे मनोरजक है, प्रेमियो को आनन्द भरे चिन्तन की सामग्री देने वाला है, कुरान की कुछ आयतो का उपदेश देने वाला है और हिन्दुस्तानी गायकों-भाटो के गीत जैसा है* ।" मुल्ला दाऊद ने यह मसनवी सन् १३७० ई० मे अर्थात खुसरो की मृत्यु (सन् १३२४ ई०) के ४६ वर्ष पश्चात दिल्ली मे ही लिखी थी। उस समय दिल्ली मे मेवाड़ और महोबा के भाटों के गाने की भाषा काव्य-भाषा मानी जाती थी। अमीर खुसरो के समय ही वह गोपाल नायक जैसे सगीतज्ञों द्वारा उस सगीत की भाषा बनाई जा चुकी थी जिसका अत्यन्त निखरा हुआ रूप तोमरो के सगीत एव पदो मे मिलता है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि खिलजी और तुगलकों के दक्षिण अभियानों के साथ यही भाषा गयी, जिसका उस समय तक ग्वालियर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा दखिनी के जिस गूजरी नाम का उल्लेख किया गया है उसके विषय मे विचार करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते है। दण्डी के मतानुसार आभीरादि की बोली अपभ्रंश है। महाभारत के निर्माणकाल तक आभीर मध्यदेश की पश्चिमी सीमा पर मौजूद थे। दण्डी के समय तक वे विनशन के पूर्व की ओर बहुत दूर तक समस्त मध्यदेश मे फैल गये थे†। उनके द्वारा न सस्कृत अपनाई गयी, न प्राकृत। उनकी बोली तत्कालीन लोक-भाषा अपभ्रंश बनी। दण्डी ने इसे ही आभीरों की बोली कहा। दण्डी के 'आदि' मे गूजर भी अवश्य होंगे। ईसवी छठी शताब्दी मे गूजरों द्वारा गुजरात और भडौच को जीता गया। उनकी मुख्य राजधानी भिन्नमाल

दण्डी के आभीरादि

* डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के पृष्ठ ६ पर उद्धृत।

† नामवरसिह . हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृष्ठ २८।

थी, जहाँ से वे दसवी शताब्दी मे चालुक्यों द्वारा पूरब की ओर खदेड दिये गये। इस प्रकार गुजरात तथा राजस्थान से मध्यदेश की भाषा का साम्य स्थापित हुआ, जो चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी तक स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु यहाँ हमे केवल उन गूजरों से सम्बन्ध है जो खिलजी और तुगलक सुल्तानों के साथ दक्षिण मे पहुँचे तथा जिनके कारण वहाँ की हिन्दवी का एक नाम गूजरी भी पडा।

गूजर और अहीर समस्त मध्यदेश मे फैले हुए है। ग्वालियर के आसपास तो गाँव के गाँव आज भी अहीर और गूजर आदि गोपालो की बस्तियाँ है। गोपाचल नाम ही उन ग्वालों का दिया हुआ है। चरखारी मे गूजरो का राज्य तो देशी राज्यो के विलीनीकरण तक रहा है। बड गूजर गगा किनारे तक पहुँचे जहाँ उनके द्वारा अनूपशहर बसाया गया*। ये दोनों जातियाँ यद्यपि पशुपालन और खेती का व्यवसाय करती हैं, परन्तु आज भी वे अपनी सैनिक-सुलभ शरीर-सम्पत्ति लिये हुए है। मुस्लिम सुल्तानो की सेना मे केवल मुसलमान सैनिक ही नही होते थे। उनमे आभीरो और गूजरों तथा नष्टराज्य राजपूतों को भी स्थान मिलता था। माचेड़ी का बड़ गूजर गोगदेव फीरोजशाह तुगलक का सामन्त था† (दक्षिण में गूजर और बड़ गूजर का भेद नहीं समझा जा सकता था) और उसी फीरोजशाह की सेना मे ग्वालियर के तोमर राज्य के संस्थापक वीरसिह भी थे‡। सुल्तानो की सेवा की यह परम्परा पुरानी है। अतएव अलाउद्दीन के दक्षिण अभियानों मे गूजर तथा आभीरादि गये होंगे। उस समय तक आभीर-गूजरों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा अपभ्रंश से निकल कर हिन्दी का रूप ग्रहण कर चुकी थी। तत्कालीन ग्वालियर

गूजर और तुगलक

---

* टॉड का राजस्थान (ओझाकृत अनुवाद) जिल्द १, पृष्ठ १४०।

† गौरीशंकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ १५२।

‡ वही, पृष्ठ २६७।

मे गूजरो का प्रभाव कितना था यह इसी बात से प्रकट होता है कि मानसिह तोमर की रानी मृगनयनी गूजर-पुत्री थी, जिसके नाम पर उसने 'गूजरी', 'बहुल गूजरी', 'माल गूजरी' एव 'मगल गूजरी' रागिनियो को रूप दिया* और 'गूजरी महल' जैसे सुन्दर प्रासाद का निर्माण कराया।

जैसा डॉ० बाबूराम सक्सेना का मत है, गूजरी नामक इस दखिनी हिन्दी का रूप "पजाब के पूरबी हिस्से और दिल्ली मेरठ की आसपास की भाषा" से निर्मित हुआ †। यद्यपि पजाब के पूरबी हिस्से की और दिल्ली मेरठ की बोली भी मध्यदेश की है, परन्तु दक्षिण मे उसका व्यवहार बोलचाल के लिए ही हुआ। उस काल मे दक्षिण मे परिनिष्ठित काव्यभाषा दूसरी समझी जाती थी। दक्षिण मे पहुँचने वाले ये मुस्लिम प्रचारक जब दिल्ली से दक्षिण जाते थे, तब उन्हे ग्वालियर होकर जाना पडता था। दखिनी के पहले ग्रन्थकार बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) जब तैमूर के आक्रमण (ई० १३६८) के समय दक्षिण गये, तब भेलसा, ग्वालियर, भाडी और गुजरात होते हुए दौलताबाद पहुँचे थे‡। भाषा की खोज मे इनका सम्पर्क तत्कालीन काव्यभाषा से भी होना प्राकृतिक है। इन मुस्लिम लेखको ने ग्वालियर से क्या पाया, इसका उल्लेख हम दखिनी कवि वजही के सिलसिले मे पहले कर चुके है। वजही ने सबरस मे ग्वालियर के चतुरों की वाणी के साथ अमीर खुसरो के एक पद्य को भी उद्धृत किया है—

दखिनी का रूप

ज्यो खुसरो कहता है—बेत।

पखा होकर मै झली साथी तेरा चाव।
मुज जलती को जनम गया, तेरे लेखन बाव॥

---

* गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ ३६।

† डॉ० बाबूराम सक्सेना दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ २३।

‡ वही, पृष्ठ ३५।

दक्षिण मे मुसलमान संतो ने नौमुस्लिमों और अपने अधीनस्थ हिन्दुओ को इस्लाम के उपदेश देने के लिए उत्तर की काव्यभाषा के स्थान पर दिल्ली-मेरठ की घरेलू बोली को प्राधान्य दिया और इसी कारण उनकी दखिनी में खड़ी बोली का पुट मिला है। परन्तु जैसा कि वजही के उद्धरणों* से स्पष्ट है, वे इस काव्यभाषा ग्वालियरी के गौरव को नही भूल सके। हमारे मत मे तत्कालीन काव्यभाषा ग्वालियरी के एक उत्तरी कोने मे जिस प्रकार दिल्ली-मेरठ की बोली एक स्थानीय घरेलू बोली थी, उसी प्रकार पूर्व मे अवध की स्थानीय घरेलू बोली वह थी जिसे अवधी कहा जाता है। निम्न वर्ग मे प्रचार के उद्देश्य से दिल्ली के सूफियों ने दक्षिण मे जिस भावना से परिनिष्ठित काव्यभाषा को छोड़कर ग्रामीण रूप को अपनाया था, उसी भावना से जायसी ने अपने प्रदेश की स्थानीय बोली को अपनाया था। अस्तु।

मध्यदेश की भाषा मुसलमानी शासन के पहले से ही दक्षिण की ओर प्रवाहित होती रही है। सस्कृत, पाली और प्राकृत तो समस्त भारत मे, उत्तर और दक्षिण मे प्रचलित हो ही गयी थी, अपभ्रंश, वह भी मध्यदेश की अपभ्रंश को भी दक्षिण मे प्रचार मिला। स्वयभू तथा पुष्पदन्त अपभ्रंश के दो महान कवि है। दोनो ही मध्यदेश मे उत्पन्न हुए। उन्हें आश्रय मिला दक्षिण के राष्ट्रकूटो की राजसभा मे। परन्तु हिन्दी का जो रूप ईसवी प्रथम सहस्राब्दी के पश्चात निर्मित हुआ था, वह दक्षिण मे तुर्कों के साथ पहुँचा। प्रसिद्ध भाषातत्त्व-विशारद डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इस विषय मे लिखा है "पूर्वी पजाब तथा पश्चिमी सयुक्त प्रदेश—आर्यावर्त के जिस भाग का नाम मध्यदेश था तथा जिस भाग को आजकल पछाह

भाषा या
गूजरी बोली

---

* राहुल साकृत्यायन, ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६६।

कहते है—से तुर्कों द्वारा भारत की विजय कर लेने के बाद ईसा की चौदहवी शती से भाग्यान्वेषी सेनानी तथा वणिग्जन दक्खिन (महाराष्ट्र, तैलगाना और कर्नाटक) मे अपना आसन जमाने लगे। इन लोगों मे यद्यपि दिल्ली के तुर्क सुलतानो से प्रेरित या पृष्ठपोषित पजाबी और पछांही भारतीय मुसलमान ही नेतृस्थानीय थे, फिर भी राजपूत, जाट, बनिया, कायस्थ आदि जातियो के हिन्दुओ की सख्या भी कम नही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगो मे पूर्वी पजाब और पछाह के गूजरों की सख्या अधिक थी, क्योकि दखिनी को उसके कवि लोग 'भाका' या 'भाखा' बोलते थे और 'गूजरी 'नाम भी देते थे* ।"

ईसवी तेरहवी और चौदहवी शताब्दी मे खिलजी और तुग़लक शासन मे यह भाषा-सपर्क बहुत अधिक बढ़ गया। ईसवी सन् १२९५ मे अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण भारत पर प्रथम अभियान किया। ईसवी सन् १३०६ मे उसका दूसरा आक्रमण हुआ। अलाउद्दीन के गुलाम सेनापति मलिक काफूर ने ईसवी सन् १३१२ तक समस्त दक्षिण को विजय कर लिया। मुहम्मद तुगलक ने तो ईसवी सन् १३२६ मे देवगिरि को तुगलक साम्राज्य की राजधानी दौलताबाद के रूप मे बनाने के लिए समस्त दिल्ली नगर निवासियो को रवाना कर दिया था। अलाउद्दीन के अभियानों मे उस समय का सबसे अधिक प्रतिभाशाली तुर्क अमीर खुसरो भी दक्षिण गया था। इसका जन्म एटा के पास 'पटयाली' मे हुआ था। यह स्थान मध्यदेश मे, अथवा श्री राहुल सांकृत्यायन के शब्दो मे 'ब्रजभाषा या ग्वालियरी' के क्षेत्र मे है† । वह हिन्दी का प्रसशक तो था ही, उसके साथ इस भाषा का दक्षिण मे जाना अनिवार्य था।

भाषा और दक्षिण

---

* श्रीराम शर्मा दक्खिनी का पद्य और गद्य, अवतरणिका, पृष्ठ ५।

† राहुल साकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविना, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६७।

कुछ सूफी कवियो द्वारा प्रयुक्त 'भाषा' नाम का पहले उल्लेख हो चुका है । परन्तु दक्षिण और उत्तर के मुसलमान लेखको द्वारा हिन्दी

हिन्दुई भाषा हिन्दवी या हिन्दी

की एक और नाम-परम्परा स्थापित हो रही थी। जो मुसलमान प्रचारक तेरहवी शताब्दी से दक्षिण मे जाने लगे, उनके द्वारा हिन्दी की एक नाम परपरा अलग बन रही थी । दखिनी के शेख अशरफ़ (ई० १५०३) ने इसे हिन्दवी कहा—

बाजा कैता हिन्दवी मे । किस्सए मकतल शाह हुसे ।
नज्म लिखी सब मौजू आन । यो मै हिन्दवी कर आसान ॥*

शाह बुर्हानुद्दीन जानम (ई० १५८२) ने इसे हिन्दी कहा.—

यह सब बोलू हिन्दी बोल। पुन तू एन्हो सेती घोल ॥
ऐब न राखे हिन्दी बोल । मानी तो चख दीखे खोल ॥
हिन्दी बोलो किया बखान । जेकर परसाद था मुझ ग्यान ॥*

अरबी के विद्वान शाह मीरांजी शम्सुल उश्शाक़ का जन्म मक्का मे हुआ था। इस्लाम का प्रचार करने ये भारत मे आए थे। तुर्कों के अभियानों के साथ वे भी कर्नाटक पहुँचे और इस दखिनी मे उपदेश देने लगे। वे लिखते हैं .—

हमी बोल अरबी करे और फारसी बहुतेरे ।
यो हिन्दवी बोली तब इस अर्थ भावे सब
यह भाखा भले सो बोले पुन इसका भाव खोले
वे अरबी बोल न जाने न फारसी पछाने
ये देखत हिन्दी बोल पुन माइने मे ।†

अतएव प्रकट है कि जो बहुत से नौमुस्लिम तथा हिन्दू दक्षिण मे गये थे, वे अरबी या फारसी से अनभिज्ञ थे और अपने यसाथ मध्-

* डा० बाबूराम सक्सेना . दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १४ ।
† श्रीराम शर्मा . दखिनी का पद्य और गद्य, पृष्ठ ५२ ।

देश की भाषा ले गये थे। यह 'हिन्दी' या 'भाषा' दक्षिण मे 'गूजरी' भी कहलाती थी, यह पहले लिखा ही जा चुका है।

वजही (ई०१६००) ने इस भाषा को अपने 'सबरस' मे हिन्दी कहा.—

हिदोस्तान मे हिन्दी जबान सो इस लताफत इस छन्दा सो नज्म और नस्र मिला कर गुलाकर यो मै बोल्या"* ।

परन्तु वजही ने ही उसे एक दूसरे स्थल पर दखिनी सज्ञा दी.—

दखिनी मे जो दखिनी मिठी बात का ।
अदा नै किया कोई इस घात का ॥†

दखिनी

ई० सन् १६४६ मे इब्न निशाती फूलबन ने भी इस भाषा को दखिनी नाम से सबोधित किया है । परन्तु नाम तो इसका हिन्दी या हिन्दवी-ही था। उत्तरापथ-सापेक्ष दखिनी नाम स्थानवाचक है। मुस्लिम शासकों द्वारा अनादर की भावना से दिया गया यह हिन्दवी-हिन्दी नाम "श्री गुनखान सुखदान कृपा निधान भगवान कपतान जान उलियट टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दया सागर परोपकारी डाक्तर उलियम हटर नक्षत्री की सहायता से संवत १८६६ मे"‡(ई० १८०६) पूर्ण किये गये अपने प्रेमसागर द्वारा लल्लूलाल जी ने हमारे दूसरे शासक अग्रेजो को सॅभला दिया,* और फिर अग्रेज विद्वानो के करकमलो द्वारा यह 'हिन्दी' नाम हमने सादर ग्रहण कर लिया। इस नाम की अपमानजनक भावना को समझने वालो ने इसे 'आर्यभाषा' और 'नागरी' नाम देने का प्रयत्न किया,परन्तु वे नाम प्रचलित न हो सके । जो हो गया सो हो गया। माई-बाप द्वारा दिया हुआ नक-

हिन्दी, आर्य-भाषा तथा नागरी

* डॉ० बाबूराम सक्सेना दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १४ ।

† वही, पृष्ठ १५ ।

‡ ब्रजरत्नदास द्वारा सपादित प्रेमसागर, पृष्ठ ४२ ।

छेदन अथवा दमड़ीमल नाम चल गया सो चल ही गया। स्मरण रखने की बात यहाँ केवल यह है कि हिन्दी साहित्य और भाषा के विषय मे प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतत्र चिन्तन का परिणाम मान कर सदा ही सही निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता, जिसका सबसे बडा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य-भाषा का 'ब्रजभाषा' नामकरण और सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी के पहले काव्य-ग्रथो मे किसी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।

ग्वालियरी और ब्रजभाषा

गोपाल के रसविलास अर्थात पृथ्वीराज राठौड की बेलि की टीका के विषय मे हम यह पहले लिख चुके है कि उस अनुवाद की भाषा को जयकीर्ति ने ग्वालियरी भाषा कहा है और स्वय गोपाल ने ब्रजभाषा।

ग्वालियरी और ब्रज एक ही भाषा के दो नाम

गोपाल ने यह नाम कहाँ से पाया और क्यों उसका प्रयोग किया, उन परिस्थितियो पर तो अब विचार करेगे ही, यह भी स्मरणीय है कि उन परिस्थितियो के प्रभाव से मुक्त जैनमुनि जयकीर्ति ने तत्कालीन काव्यभाषा के लिए सर्वमान्य नाम का ही प्रयोग किया है। एक ही भाषा के लिए इन दो नामो के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भेद केवल नाम का है, भाषा के रूप से उसका कोई सम्बन्ध नही। शास्त्रीय क्षेत्र मे जिस काव्यभाषा को ग्वालियरी भाषा कहा जाता था, उसको ही साम्प्रदायिक क्षेत्र मे कुछ लोगो द्वारा ब्रजभाषा नाम देना प्रारम्भ कर दिया गया। यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि यह ब्रजभाषा नाम किसी प्रदेश विशेष की बोली के लिए भी प्रयुक्त नही हुआ है, वह विशुद्ध सम्प्रदाय विशेष का शब्द है। ब्रजभाषा नाम के पीछे कार्य करने वाले साम्प्रदायिक भावना-प्रवाह का विवेचन करने के पहले यह समझ रखना आवश्यक है कि ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा एक ही भाषा-रूप के दो नाम है।

पाडे जी का मत

श्री चन्द्रबली पांडे ने श्री जगन्नाथप्रसाद भानु के छद प्रभाकर मे उद्धृत दो दोहो के आधार पर कुछ विचार प्रकट किये है जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि ग्वालियरी और ब्रजभाषा कभी भिन्न भाषाएँ थी।* छन्द प्रभाकर मे उद्धृत वे दोहे इस प्रकार है —

---

* श्री चन्द्रबली पाडे केशवदास, पृष्ठ २६०।

देश भेद सौ होति है, भाषा विविध प्रकार।
बरनत है तिन सवन मे, ग्वार परी रस सार ॥
ब्रजभाषा भाषत सकल, सुर बानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल ॥*

इनमे से प्रथम दोहे मे भानु जी ने 'य' को 'प' पढ़कर ग्वार परी का अर्थ भी ब्रजभाषा बतलाया है। श्री पांडेजी ने इस भूल को पकड़ा और उसका संशोधन किया —

"यहां पर हमे विशेष ध्यान देना है वह है श्री भानु जी की यह टिप्पणी.—

ग्वार—ग्वाल भाषा अर्थात् ब्रजभाषा।

किन्तु हमारा निवेदन है—जी नही। फलत उसका अर्थ भी है ग्वालियर की भाषा।"

परन्तु यहॉ एक भूल के परिमार्जन मे दूसरी भूल हो गयी। श्री भानु जी ने दोनो दोहों को एक ही भाषा से सम्बन्धित ठीक ही समझा था। लेकिन पांडे जी ने उन्हे दो भाषाओ के उल्लेख मान कर विवेचन किया "इतना ही नही, यहॉ इन दोनो दोहो मे 'ग्वालियरी' और ब्रजभाषा का भेद भी धरा है। टुक ध्यान दीजिये। 'ग्वारियरी' को तो 'रस सार' कहा गया है, पर ब्रजभाषा को कहा गया है 'सुर बानी सम तूल' और साथ ही कहा गया है 'महारस मूल' भी। ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा का कारण भी यही छिपा है। पहले तो उसे सस्कृत के समकक्ष ठहराया गया है, जो शौरसेनी का दाय है, दूसरे उसे 'महारस मूल' कहा गया है, जो राधाकृष्ण की लीला का प्रसाद है। रही उधर 'ग्वारियरी'। सो उसे 'दाय' के रूप मे सस्कृत का तो कुछ अभिमान हो सकता है, पर वह 'महारस' को अपने मे कहॉ समेटे ? फलत. भक्ति भावना के प्रसार के कारण वह हारी, ब्रजभाषा जीत गयी।"

---

* श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' छन्द.प्रभाकर, भूमिका, पृष्ठ १३।

जैसा हम उपर लिख चुके हैं, ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा नामों मे भाषा के रूप-भेद का कोई प्रश्न ही नही है। ग्वालियरी को भी शौरसेनी का दाय मिला था और उसका रूप-निर्माण भी मानसिंह तोमर से भी पूर्व अनेक नायक अपने पद-साहित्य द्वारा तथा डूगरेन्द्रसिह के काल मे विष्णुदास 'महाभारत कथा' 'रुक्मिणी मगल' तथा 'स्वर्गारोहण कथा' द्वारा कर गये थे और अपने साथ कृष्ण की लीलाओ का प्रसाद भी वह लिये थी। यह अवश्य है कि उसमे 'राधा' और गोपियाँ उतने विशिष्ट रूप मे नही आई थी जिसमे वे आगे बगाल के प्रभाव से बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग, हितहरिवश के राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास के टट्टी सम्प्रदाय की वाणी मे आई। उक्त दोहो मे जो कुछ कहा गया है उसका सीधा-सादा अर्थ यही है 'देश-भेद से विविध प्रकार की भाषाएँ हो जाती है, इन सबमे ग्वालियरी रस सार है जिसे सब ब्रजभाषा कहते है, जो सुरवाणी के समतुल्य है, जिसमे सब कवि, उसे महारस मूल जानकर, काव्य रचना करते हैं।' दुर्भाग्य से श्री भानु जी ने इन दोहों के पूर्वापर का अथवा इनके रचना काल का उल्लेख नहीं किया, परन्तु जब उनके द्वारा दोनो को एक ही भाषा के सम्बन्ध मे समझा गया तब उद्धृत दोहो के पूर्व अन्य भाषाओं अथवा बोलियों का उल्लेख होगा। तात्पर्य यह कि ग्वालियरी भाषा और ब्रजभाषा को कभी दो भिन्न भाषाएँ नही माना गया। जिसे ग्वालियरी कहा जाता था, वही भाषा ज्यो की त्यो ब्रजभाषा भी कही जाने लगी। ग्वालियरी का ही नाम ब्रजभाषा हो गया अथवा ब्रजभाषा को ही ग्वालियरी भी कहा जाता था इसका प्रमाण तो 'उर्दू के परम खोजी' मौलाना हाफिज मुहम्मद खाँ शेरानी के उस उद्धरण मे ही है जिसे श्री पांडे जी ने अपनी पुस्तक मे दिया है *। परन्तु श्री पांडे जी भी सही परिणाम पर ही पहुँच गये।

पाडे जी द्वारा प्राप्त परिणाम

---

* चद्रबली पाडे केशवदास, पृष्ठ २९३।

वे लिखते हैं, "यही 'ग्वालियरी' जब कृष्णकी बाँसुरी मे ढली तब ब्रजभाषा के नाम से बाज उठी* ।"

। ब्रजभाषा नाम की उत्पत्ति का रहस्य समझने के लिए ब्रजमडल के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा इस विषय मे बहुत अधिक खोजबीन की जा चुकी है।

वार्त्ता का ब्रज-मडल

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "ब्रज शब्द का सस्कृत तत्सम रूप ब्रज है जो सस्कृत धातु ब्रज शब्द 'ब्रज' 'जाना' से बना है। 'ब्रज' शब्द का प्रथम प्रयोग ऋग्वेद सहिता मे मिलता है, किन्तु यहाँ यह शब्द ढोरो के चरागाह या बाडे अथवा पशु-समूह के अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य तथा रामायण-महाभारत तक मे यह शब्द देशवाचक नही हो पाया था। हरिवश तथा भागवत आदि पौराणिक साहित्य मे भी इस शब्द का प्रयोग कृष्ण के पिता नन्द के मथुरा के निकटस्थ ब्रज अथवा गोष्ठ विशेष के अर्थ मे ही हुआ है।" डॉ० वर्मा ने आगे प्रकट किया है कि चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता मे ब्रज शब्द मथुरा के चारो ओर के प्रदेश के अर्थ मे सर्व प्रथम मिलता है† । सूरदास सम्बन्धी वार्त्ता मे यह उल्लेख इस प्रकार आया है "सो एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु अडेलते ब्रजकों पावधारे सो कितनेक दिन मे गऊघाट आए सो गऊघाट आगरे और मथुरा के बीचों बीच है"‡ । वार्त्ता साहित्य की प्रामाणिकता को मानने वाले श्रद्धालु विद्वान उन्हें गोकुलनाथकृत मानते हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस विषय मे लिखा है "यह स्पष्ट है कि श्री गोकुलनाथ जी ने स्वय उन्हें कभी नहीं लिखा था, किन्तु उनके गोकुलनाथ

---

* चन्द्रबली पाडे केशवदास, पृष्ठ २९३ ।

† डॉ० धीरेन्द्र वर्मा - ब्रजभाषा, पृष्ठ १६ ।

‡ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, (गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण,) पृष्ठ २७२ ।

जी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि उन रचनाओं के मूल वचन स्वय उनके मुख से निकले थे* ।" "उन वचनामृतो का लिखित रूप मे प्रचार होने के बहुत दिनो बाद श्री हरिराय जी ने उनका संकलन किया और गोकुलनाथ जी के तत्वधान मे उनका वार्ताओ के रूप मे सकलन किया† ।" गोकुलनाथ जी सन् १६४७ ई० तक जीवित रहे । इस प्रकार यह वार्ता-साहित्य सत्रहवी शताब्दी के पूर्व की रचना नही है । इस प्रकार ब्रज शब्द का प्रदेश के अर्थ मे सर्व प्रथम ईसवी सत्रहवी शताब्दी मे प्रादुर्भाव हुआ ।

हम पहले लिख चुके हैं कि ईसवी सोलहवी शताब्दी के पूर्व मथुरा के आसपास का प्रदेश इस स्थिति मे नही था कि वह किसी काव्यभाषा के निर्माण मे कोई सक्रिय योग दे सकता, विशेषत उन शताब्दियों में जब हिन्दी का निर्माण हुआ । लोकभाषा को साहित्यिक-भाषा की कोटि तक पहुँचाने के लिए जिस उत्फुल्ल और आशापूर्ण जनजीवन की आवश्यकता होती है वह ग्यारहवी शताब्दी के बाद से ही मथुरा-मंडल मे समाप्तप्राय कर दिया गया था । उन शताब्दियो मे आशा और निराशा के बीच जिन जीवन्त सघर्षो की छाया मे महोबा, मेवाड़ और ग्वालियर का हिन्दू जनजीवन उत्साह पूर्वक बने रहने और जमे रहने का प्रयास कर रहा था, वह मथुरा-मडल मे दिखाई नही देता था । अपनी ओर से कुछ न कह कर हम ब्रज-साहित्य-मडल द्वारा ब्रज-लोक-सस्कृति शिविर मे दिये गये भाषणों मे से श्री मदनमोहन नागर के भाषण 'ब्रज का इतिहास' से कुछ अश यहाँ उद्धृत किये देते हैं‡ :—

मथुरा-मडल और हिन्दी

"लेकिन सभ्यता तथा शान्ति की यह दशा अधिक दिनों तक न

---

* प्रभुदयाल मीतल अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ७८ ।

† वही ।

‡ डॉ० सत्येन्द्र द्वारा सपादित : ब्रजलोक–सस्कृति, पृष्ठ १५७-१६० ।

रह सकी और पांचवी शताब्दी के अन्त मे मध्य एशिया के रहने वाले जगली हूणो ने अपने नायक तोरमाण और मिहिरकुल के संचालन मे उत्तरी भारत को रूंद डाला और बली गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। हूण लोग बौद्ध धर्म के कट्टर शत्रु थे इसलिए इन्होने भारत-वर्ष के समस्त बौद्ध स्थानो को लूटपाट कर नष्टभ्रष्ट कर डाला। मथुरा को भी इन आक्रमणकारी हूणों की ध्वसलीला का शिकार होना पडा और इस कारण यहॉ के कितने ही स्तूप, बिहार, सघाराम आदि बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो गये। पर सौभाग्यवश हूणो की राज्यसत्ता अधिक दिनो न चल सकी और ई० सन् ५३० मे बालादित्य और यशोधर्मा नामक राजाओं के नेतृत्व मे उस समय के नरेशों के सघ द्वारा मिहिरकुल बिल्कुल परास्त कर भारत से निकाल दिया गया। इसके बाद यद्यपि हर्षवर्धन, ललितादित्य, यशोवर्मन, मिहिरभोज आदि अनेको प्रतापी नरेशों के राज्य मे मथुरा रहा, पर इस समय की कला के जो नमूने हमे मिले हैं वे इतने कम और हीन हैं कि उनके आधार पर मथुरा का ठीक-ठीक इतिहास गढना असम्भव सा है और जब हम उत्तर मध्ययुग (१०००-१२०० ए डी) मे पहुॅचते है तो यह टिमटिमाता हुआ दीपक भी बुझ जाता है। हूणों के आक्रमण से मथुरा की सभ्यता को इतना प्रचड धक्का लगा कि वह फिर यहॉ कभी नही पनप सकी। साथ ही साथ लोप हो गयी यहॉ की वह सारी कला भी जो उत्तरीभारत मे निरन्तर ७०० वर्षों तक सूर्य के समान चमकती थी।

"इसके पश्चात भारतीय इतिहास के साहित्य मे मथुरा का जो उल्लेख हमे मिलता है वह महमूद गजनी के नवे आक्रमण से सम्बन्धित है। यह आक्रमण १०१७ ई० मे हुआ था, और इसका पूर्ण विवरण हमे अल-उत्वी की 'तारीख-इ-यमीनी' मे मिलता है। कहा जाता है कि महमूद ने सर्व प्रथम बरन—आधुनिक बुलन्दशहर के किले को जीत कर काफिरो के एक नेता कूलचन्द के किले को जीतने के लिए पैर बढ़ाया। कूलचन्द एक शक्तिशाली नायक था। उसने महमूद से लड़ने के विचार

से 'घने जंगल' मे अपने सैन्य व हाथियों को सगठित किया, परन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। अपने को पराजित हुआ जानकर उसने अपनी स्त्री को अपने ही हाथ से मृत्यु की गोद मे सुला दिया, और स्वयं भी आत्म-हत्या कर ली। महमूद ने उसके शहर को खूब लूटा और मन्दिरो को, जिनमे कई लोहे के सीखचों से सुदृढ बनाए गये थे और जिनमे कितने ही बडे-बडे काष्ठ-स्तभों से परिवृत थे, जलाकर भूमि-शायी कर दिया। यद्यपि इस अवतरण मे मथुरा या महावन का स्पष्ट उल्लेख नही है, तथापि उपर्युक्त ग्रथ मे कूलचन्द के किले को 'मड' कहे जाने से तथा 'घने जगल' शब्द के महावन के पर्यायवाची होने से यही प्रतीत होता है कि इस वर्णन मे मथुरा नगरी को ही इगित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस नगर का नाम 'महारूतुलाहन्द' अर्थात जहाँ मन्दिर इत्यादि बड़ी सख्या मे पाए जाते हो, कहा गया है। जिसके आधार पर फरिश्ता इत्यादि यवन इतिहासकारों ने इसे मथुरा का ही रूपान्तर माना है।

"इतिहासकारों के मतानुसार मथुरा इस समय ब्राह्मणधर्म, विशेषत. आधुनिक कृष्णभक्ति का केन्द्र बन चुका था और इसके फलस्वरूप महमूद को यहाँ के मन्दिरों मे अतुल धनराशि मिली थी।

"सन् १०१७ के पश्चात से अकबर के समय तक इस नगरी का इतिहास अज्ञात है। यवन शासको के आतक के कारण मन्दिरो का समृद्धिशाली होना रुक सा गया था क्योकि इनकी गृद्ध-दृष्टि से लेनेवाले और देनेवाले दोनों बचना चाहते थे। सभवत इसीलिए मथुरा नगरी मे बौद्ध और जैन सस्कृति के अवशेष अब तक अगणित संख्या मे पाए जाते हैं, वही पर पौराणिक धर्म के मन्दिर आदि या उनके ध्वसावशेष बहुत ही कम दृष्टिगोचर होते हैं। तत्कालीन यवन इतिहास मे इस नगरी के उल्लेख भी नाममात्र ही को है। सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१६) के शासनकाल का वर्णन करते हुए 'तारीख-इ-दौदी' का लेखक कहता है कि बादशाह इतना कट्टर मुसलमान था कि उसने मथुरा के

मन्दिरो का पूर्ण विध्वस कर उनमे की प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कसाइयों को बाटो के काम मे लाने के लिए दे दी। पर वह इतने से ही सन्तुष्ट न रहा, उसने सब मन्दिरो को सरायो मे परिवर्तित कर दिया और हिन्दुओं के सारे धार्मिक आचार बन्द करा दिये।

"जिस समय बाबर ने इब्राहीम लोदी को पराजित किया उस समय (१५२६) महावन मे मरधूब गुलाम सभवत शासक के पद पर था। जुबदत-उल--तवारीख के लेखक शेख नूर-उल-हक ने शेरशाह द्वारा आगरे से दिल्ली तक एक मार्ग बनवाए जाने के सिल सले मे मथुरा के उन जगलो का भी उल्लेख किया है, जिनमे रहने वाले डाकुओं का आतक फैला हुआ था। मथुरा के ये जगल मध्यकाल मे मुगल सम्राटो के आखेट के प्रमुख स्थान बने थे। अबुलफजल हमे बतलाता है कि किस प्रकार अकबर ने उसके एक नौकर के ऊपर झपटने वाले शेर को धराशायी किया था। जहाँगीरनामे से भी ज्ञात होता है कि इन्ही वनों मे किस प्रकार एक शेर हाथी पर बैठी हुई नूरजहाँ की गोली का शिकार हुआ था। शाहजहाँ ने भी नदी के उस पार महावन मे चार शेरों की बलि ली थी, जिसका विवरण हमे शाहनामे मे विशद शब्दों मे मिलता है।

"अकबर के उदार शासन काल मे मथुरा पुन उन्नति के सोपान पर चढ़ने लगी।"

अतएव इस कथन से स्पष्ट है कि अकबर के शासन के पूर्व हिन्दी के जिस रूप का निर्माण मध्यदेश मे हुआ, उसमे ऐतिहासिक परिस्थितयो के कारण, मथुरा-मडल योगदान न कर सका। इस कार्य का भार उन दिनो चम्बल के दक्षिण मे स्थित भूभाग के कन्धों पर पडा था। सोलहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के पूर्व हिन्दी का जो रूप था उसका मथुरा-मंडल से अथवा सत्रहवी शताब्दी मे नामधारक ब्रजमडल से अधिक सम्बन्ध नही हो सकता था। उसका जिस क्षेत्र से सम्बन्ध था, उसके विषय मे हम पहले भी लिख चुके हैं और आगे भी विस्तार से

लिखेंगे तथा वह "ग्वालियरी भाषा" नाम से भी प्रकट है।

ब्रजमडल नाम ईसवी सत्रहवी शताब्दी मे अस्तित्व मे आया। ब्रजभाषा नाम भी सबसे पहले सत्रहवी शताब्दी मे ही हिन्दी मे प्रयोग किये जाने का उल्लेख अब तक मिला है। परन्तु यह भ्रम न रहे कि जिस प्रकार ब्रजमंडल नाम वार्ताओ की देन है, उसी प्रकार ब्रजभाषा नाम भी वार्ताओं की सूझ है। यह नाम सुदूर बगाल से आया है। बगला साहित्य के इतिहास-लेखक श्री सुकुमार सेन ने लिखा है* "ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे अथवा सोलहवी शताब्दी के प्रथम चरण मे ब्रजबोली मे पद रचना बगाली, असमियॉ तथा उडिया भाषा मे प्राय एक साथ ही प्रवर्तित हुई। बगाल देश मे हुसेनशाह ने, जिसका समय लगभग सन् १४६३ से १५१६ तक का है इस बोली मे रचना की। असम देश मे शकरदेव ने ब्रजबोली की पदरचना का प्रवर्त्तन किया, जिनका समय सन् १५६८ ई० था। उडीसा मे प्राचीनतम प्राप्त पद-रचना रामानन्दराय की है, जिसका रचनाकाल सन् १५०४ से १५११ ई० तक का माना जाता है। बगाल देश मे ब्रजबोली मे सोलहवी, सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी तक अत्यधिक पद-रचना होती रही। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम भाग मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी भानुदास के नाम से इसमे रचना की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बगाल, असम और उडीसा मे कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी गीत-रचयिताओ ने जयदेव एव विद्यापति की भाषा की छाया लेकर मैथिल एव बगला भाषा के मिश्रण से बनी हुई कृत्रिम भाषा को ब्रजबोली नाम दे दिया था।" अपने एक दूसरे ग्रथ मे इसी विद्वान लेखक ने लिखा है "साधारण कृष्ण-भक्त भी यह समझने लगे थे कि द्वापर युग मे राधाकृष्ण सभवत इसी भाषा मे बातचीत करते थे, यही ब्रज की बोली थी। सुतरा इस भाषा का नाम 'ब्रजबोली' ब्रज अर्थात वृन्दावन की भाषा

ब्रजबोली

* सुकुमार सेन बाग्ला साहित्येर इतिहास, पृष्ठ २०५।

रखा गया* ।"

बगाल के ये वैष्णव भक्त सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही वृन्दावन-मथुरा मे यात्राओ पर आने लगे थे। अनेक गौडीय भक्त तो वहाँ बस भी गये थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने जब गोकुल मे श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना की, तब प्रारम्भ मे ये गौडीय भक्त ही उनकी सेवा पूजा के लिए नियुक्त थे। अपनी ब्रजबोली मे ये कृष्ण-कीर्त्तन भी करते थे। परन्तु वल्लभाचार्य जी ने बगाल के कृष्णभक्त वैष्णवों मे राधाकृष्ण के सभापण की मानी जाने वाली इस नवीन बोली अथवा उसके नाम ब्रजबोली को नही अपनाया। महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम माना और श्रीमद्भागवत् की 'स्पष्ट और अस्पष्ट सभी लीलाओ को उनके तत्त्व रूप एक हजार पचहत्तर नामो से प्रकट'† कर पुरुषोत्तम सहस्रनाम लिखा। उनके द्वारा लोकभाषा मे भी उपदेश दिये गये। श्री मीतल का कथन है—"वल्लभाचार्य जी अपने व्याख्यान और प्रचार कार्य मे ब्रजभाषा का ही उपयोग करते थे। उनको यह भाषा इसलिए प्रिय थी कि यह उनके इष्टदेव भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित है। वे इस भाषा को 'पुरुषोत्तम भाषा' कहते थे‡।" बगाल के कृष्णभक्तो ने भक्ति के भावावेश मे जिस प्रकार एक 'ब्रजबोली' की कल्पना की थी, उसी प्रकार भक्ति की भावना के प्रवाह मे वल्लभाचार्य जी ने पुरुषोत्तम कृष्ण की भाषा की कल्पना की। वल्लभ सम्प्रदाय मे सोलहवी शताब्दी मे कृष्ण की भाषा 'पुरुषोत्तम भाषा' नाम से भक्तों के समाज मे प्रस्थापित हुई।

पुरुषोत्तम भाषा

बगाल के वैष्णव भक्तों की ब्रजबोली का उल्लेख ऊपर हो चुका है। ईसवी सोलहवी शताब्दी के प्रारभ मे ही चैतन्य महाप्रभु ने

---

* सुकुमार सेन बाग्ला स हित्येर कथा, पृष्ठ ३४।

† द्वारकादास पारीख तथा प्रभुदयाल मीतल सूर निर्णय, पृष्ठ १२६।

‡ प्रभुदयाल मीतल अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १५।

वृन्दावन यात्रा की। लगभग सन् १५१० ई० मे वे काशी होते हुए वृन्दावन गये और वहाँ अनेक मास निवास किया*। कहा तो यह भी जाता है कि वल्लभाचार्य जी की कन्या से उनका विवाह हुआ था†। चैतन्य ने लोकनाथ गोस्वामी को वृन्दावन के उद्धार के लिए वहाँ भेजा।

ब्रजबोली की वृन्दावन मे स्थापना

चैतन्य मत के प्रधान समर्थक षट-गोस्वामी — रूप गोस्वामी (१४९२-१५९१ ई०), सनातन गोस्वामी (१४९०-१५९१ ई०), रघुनाथदास गोस्वामी (१४९८-१५८४ ई०), रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट तथा जीव गोस्वामी वृन्दावन मे निवास कर रहे थे। वृन्दावन मे कविराज कृष्णदास (१४९६-१५९८ ई०) ने चैतन्यचरणामृत लिखा जिसकी भाषा बगाली है, परन्तु उसमे वृन्दावन की भाषा का भी मिश्रण है। इस भाषा को भी ब्रजबोली कहा गया‡। बगाल, उडीसा और असम के वैष्णवो द्वारा भक्ति भावना से प्रसूत यह नाम वृन्दावन मे प्रचार पा रहा था और पास ही गोकुल मे महाप्रभु वल्लभाचार्य का इसी भावना से उद्भूत नाम 'पुरुषोत्तम भाषा' भक्तो की भावना को परितुष्ट कर रहा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का गोलोकवास सन् १५३७ ई० मे हुआ। कुछ समय मे ही गौडीय वैष्णव और वल्लभ सम्प्रदाय का निकट सम्पर्क होना सभाव्य है। महाप्रभु के तिरोधान के पश्चात उनके चलाये हुए 'पुरुषोत्तम भाषा' नाम को उनके अनुयायियो ने बदल दिया ज्ञात होता है। वार्त्ता मे की गयी ब्रज मडल की कल्पना के पश्चात जब ब्रज की रज का भी महत्त्व बढ़ा, तब कृष्ण भगवान के सम्भाषण की भाषा के लिए गोकुल के भक्तों को भी ब्रजबोली नाम ही अधिक उपयुक्त ज्ञात हुआ। परन्तु

ब्रजबोली से ब्रजभाषा

---

* बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५०१।

† डॉ० सत्येन्द्र द्वारा सम्पादित ब्रज-लोक-सस्कृति, पृष्ठ १७०।

‡ बलदेव उपाध्याय . भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५१६।

'बोली' से सन्तोष न कर उसे भाषा बना दिया गया और वृन्दावन के बगाली भक्तो की ब्रजबोली के स्थान पर गोकुल मे उसका अधिक शालीन नाम 'ब्रजभाषा' अपनाया गया।

भावावेश का परिणाम

पूरब के कृष्णभक्त असम, बगाल और उडीसा के वैष्णव कवियो की मिश्रित भाषा ब्रजबोली को भक्ति-भावना मे बहकर राधाकृष्ण के सम्भाषण की भाषा मानते थे। भावुकता का यह विभ्रम बीसवी शताब्दी मे भी दिखाई दिया। अत्यन्त भावुक हृदय कविरत्न श्री सत्यनारायण ने ऐसे ही भावावेश मे लिखा* —

बरनन को करि सकत भला तिह भाषा कोटी।
मचलि मचलि जामे मागी हरि माखन रोटी॥

पर यह सब तो केवल भावावेश और भक्ति-भावना की बात रही। भक्तों की दुनियॉ मे सब कुछ सम्भव है। भाषा के विकास के इतिहास मे तो कठोर तथ्यो पर ही विचार किया जा सकता है। वे यह प्रकट करते है कि मध्यदेशीय भाषा को दिया गया ब्रजभाषा नाम भाषा-विकास की परम्परा का नही है, न उसका सम्बन्ध भाषा के रूप से ही है, वह तो भावुक भक्तो के मधुर कल्पना-लोक की सृष्टि है।

ब्रजभाषा नाम और दक्षिण

दक्षिण देश भावुक नही है, उतना तो किसी दशा मे नही जितना बगाल है। कृष्ण-भक्त दक्षिण मे भी हुए अथवा इस प्रकार कहा जाय कि वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के अथवा चैतन्य महाप्रभु द्वारा ग्रहीत भक्ति के मूल निरूपक विष्णु स्वामी तथा मध्वाचार्य दक्षिण के ही थे। दक्षिण के भक्त नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि ने मध्यदेश की भाषा मे प्रचुर रचनाएॅ भी की, परन्तु वे श्रीकृष्ण के दूसरे रूप के उपासक थे। वे विट्ठल के भक्त थे, उनकी दृष्टि पढरपुर की ओर रहती थी। अतएव

* सत्यनारायण कविरत्न हृदयतरग (प० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित), पृष्ठ १७०।

उनके द्वारा ब्रजभूमि अथवा ब्रजभाषा नाम ग्रहण नही किया गया। दक्षिण मे केन्द्रकर जहाँ मध्यदेशीय हिन्दी को ग्वालियरी भाषा कहता है, तो महादजी शिन्दे और भी पुरानी परम्परा पकड़ कर उसे शौरसेनी भाषा कहते है।

ब्रजभाषा नाम मे भाषा की टकसाल गोकुल और मथुरा मे मानने की भावना के साथ-साथ कृष्ण की माधुर्य-भक्ति की स्वीकृति की भावना भी विद्यमान है, और साथ ही विद्यमान है तुर्कों से सॉठ-गॉठ की भावना। इसका एक विवादी स्वर बुन्देलखड मे भी सुनाई दिया। अपने समय के महापण्डित केशवदास ने इन दोनों को ही स्वीकार नहीं किया। जिस समय मुगल दरबार और श्रीनाथ जी के मन्दिर मे 'ग्वालियरी' का नाम 'ब्रजभाषा' ढल रहा था, उसी समय ओड़छा की बुन्देल-राजसभा मे केशवदास 'भाषा' मे रचना कर रहे थे। उनके आश्रयदाता बुन्देला सदा मुगलो से टकराते ही रहे। पुष्टिमार्ग द्वारा प्रचलित माधुर्य-भक्ति केशवदास को लोक-कल्याण के विरुद्ध दिखाई दे रही थी। सखी-नारी-वेश मे कृष्ण की उपासना को केशवदास ने अवैदिक और पाखण्डपूर्ण माना। वे इसी तैश मे मथुरा को पाखडपुरी कह गये तथा वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति उन्होने लिखा —

विद्रोही बुन्देलखड

उनको कबहू न विलोकनि कीजै,
अरु जो धरिये तो निरै पगु दीजै।
विपदा मह आनि भजौ दुख कीजै,
बूढि नदी मरिये विष पीजै ॥*

उनके द्वारा इसी कारण 'लोक की लीक'† स्थापन करने वाले रामचरित्र का बखान किया गया है। केशवदास की भाषा को

---

* केशवदास . विज्ञान गीता ८-४३।

† केशवदास . रामचन्द्रिका।

श्री चन्द्रबली पांडे ने 'ग्वालियरी*' कहा है, वह इस अर्थ मे ठीक है कि उनके द्वारा गोकुल-मथुरा की शब्दावली और व्याकरण को टकसाली नही माना गया। वे ग्वालियर की, शिरोमणि मिश्र के समय की भाषा को ही, अपनी काव्य-भाषा मानते रहे। परन्तु उनने अपनी 'भाषा' को ग्वालियरी नही कहा, क्यो कि ग्वालियर का अखाड़ा तो उखड़ चुका था। वे ग्वालियर के तोमरो से उनकी रसिकता के कारण प्रसन्न भी नही थे। इसी के कारण सभवत शिरोमणि मिश्र मानसिह से 'रोष' कर गये थे। केशव ने तोमरो को राजपूतो मे 'मन्मथ'† कह कर इसकी व्यजना की है। तात्पर्य यह कि अपनी भाषा को केशव ने न तो ग्वालियरी भाषा कहा और न ब्रजभाषा। जिसे पहले वे केवल 'भाषा' कहते थे, उसे ही आगे चलकर उनके द्वारा 'नर भाषा' कहा गया —

केशवदास की नरभाषा

देव देवभाषा करे, नाग नागभाषानि।
नर हो नरभाषा करी, गीता ज्ञान प्रमानि॥‡

सभव है इस 'नर भाषा' नाम मे गोपागना भाषा की प्रतिक्रिया की भी व्यजना हो। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि केशव के जिस 'देसनि की मणि' मध्यदेश का गुणगान किया है उसमे उत्तर मे वे 'गोपाचल गढ' तक ही गये हैं¶। बुन्देला वीरसिह द्वारा मथुरा मे कृष्ण के स्थान पर चारभुजानाथ केशवराय का मन्दिर बनवाने मे बुन्देलखड की यह विद्रोह भावना ही परिलक्षित होती है। बुन्देला अपने साथ काशी के गहरवारो की परपरा लेकर आए थे।

'ग्वालियर' नाम मे ही उसे कृष्ण-भक्ति-परक नाम देने की संभावना

---

* केशवदास पृष्ठ २९४।

† केशवदास वीरसिंह देव चरित्र।

‡ केशवदास : विज्ञान गीता १।७।

¶ पीछे पृष्ठ १५ देखिए।

छिपी हुई थी। जिस 'ग्वालियर गढ़' के कारण मध्यकालीन हिन्दी को ग्वालियरी भाषा नाम मिला, उसके नाम शिलालेखों* और साहित्य में गोपपर्वत, गोपगिरीन्द्र, गोपाद्रि, गोपगिरि और गोपाचल आए है। जिन ध्वनि-विकारो के नियमो से 'गोपाल' का 'ग्वाल' बन गया, उन्ही नियमो के अनुसार यह गोपगिरि ग्वालियर बन गया। गोप नाम आभीर संस्कृति का चिह्न है। इस आभीर-गोप सस्कृति के आराध्य कृष्ण है। कृष्णभक्ति का जो रूप सोलहवीं शताब्दी के पूर्व ग्वालियर मे था वह गोपालकृष्ण परक थी, गोपागना-परक तो वह गोकुल और वृन्दावन मे बनी। जब नन्द के 'ब्रज' मे ग्वालियर की भाषा भी समेटी जाने लगी, तब किसी का ध्यान उसकी ओर विशेष रूप से नही गया। बाबा नन्द की गौएँ गोपिकावेश मे समस्त भारत मे फैल गयी, तब वे अपने साथ ब्रजभूमि और ब्रजराज की महिमा तथा ब्रजभाषा नाम भी लेती गयी। उनके द्वारा सबसे पहले 'ग्वालियरी भाषा' नाम चर लिया गया, यद्यपि पुष्टिमार्ग द्वारा हिन्दी को दिये गये एकमात्र महाकवि सूरदास भी ग्वालियर के थे और उनके पदो की शैली, भाषा और सगीत उन्हे ग्वालियर से ही मिला था। ग्वाल गोपीमय हो गये, परन्तु साथ ही गोपी भी गोपालमय बन गयी। ब्रजभाषा नाम तो 'ग्वालियरी' के स्थान पर आने लगा, परन्तु प्रयास करके भी उसका रूप न बदला जा सका, वह ब्रज के चौरासी कोस मे न समेटा जा सका और व्यापक ही रहा। विद्यापति की वाणी सफल हुई :—

गोपालो का गोपगिरि

> अनुखन माधव माधव सुमिरत सुदरि भेलि मधाई।
> ओ बिन भाव सुभावहि विसरल अपने गुन लुबुधाई ॥

यह विवेचन हम आगे करेगे कि पुष्टि सम्प्रदाय को संगीत और भाषा किस प्रकार ग्वालियर से प्राप्त हुई थी। यहाँ यह प्रकट कर देना

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', पृष्ठ ४५।

आवश्यक है कि जयदेव ने व्रजराज और राधारानी की माधुर्य भक्ति का रूप काव्य को बगाल मे दिया, मिथिला के विद्यापति ने उसे पल्लवित किया, और उडीसा-बगाल-असम के कृष्ण-भक्त कवियो ने एक व्रजबोली की सृष्टि की, पुष्टि सम्प्रदाय ने आगे चलकर इस बोली को भाषा बना दिया और उस नाम की स्थापना ग्वालियरी भाषा पर करदी। जिस गेय पद-साहित्य का ग्वालियर मे निर्माण हो चुका था तथा उसमे जिस काव्यभाषा के रूप की स्थापना हो चुकी थी, उसे ही केशवदास के शब्दो मे 'नित्य बिहारी मत्र'* मे दीक्षित कर 'मोहन-मत्र-विधान' दिया गया और उससे 'तन-मन-धन' का सकल्प करा कर उसे व्रजभाषा नाम भी आगे दे दिया गया। यह रग कुछ इतना गहरा चढा कि भाषा के विकास का अध्ययन करने वाले उसके पार देखने की सामर्थ्य खो बैठे और उनकी दृष्टि मे यह कभी न आ सका कि उसका काव्यभाषा का रूप ग्वालियर, अजमेर, जयपुर, महोबा, कालिजर, गढ़कुडार तथा ओड़छा मे सॅवारा गया है। वह मध्यदेश की व्यापक काव्यभाषा है, वह पहले ग्वालियरी, बुन्देलखडी है, तब व्रज है। मध्यदेश की सीमा मे—बहुत छोटी सीमा मे वैष्णवन की वार्ता का

ग्वालियरी का तन-मन-धन सकल्प

---

* केशवदास विज्ञान गीता, अष्टम प्रभाव, ३६-४२ —

नित्य विहारिनी की मढी, त्रिय गण देखि सिहाति।
एक पियति चरणोदकनि, एक उसारनि खाति॥
पुत्री दक्षिण राज की, आयी तजि कुल तत्र।
देउ कृपा करि याहि प्रभु, नित्य बिहारी मत्र॥
सेवैगी तुमको सदन छोडि जु सबै विकल्प।
तन धन मन को प्रथमही करवाये सकल्प॥
सिखये मन्दिर माझ लै, मोहन मत्र विधान।
उन दीनी गुरू दक्षिणा, सधर अधर मधुपान॥

ब्रजमंडल है। वहाँ जो भी बोली बोली जाती थी वह भी शौरसेनी के क्षेत्र में समाविष्ट रही है—वह बोली थी, बोली है—काव्यभाषा नहीं। मध्यदेश की भाषा—ग्वालियरी का ब्रजभाषा-नामकरण केवल एक सम्प्रदाय विशेष द्वारा उस समय के मुगल सम्राट, दरबारी, सामन्त, सेठ-साहूकारों को आकर्षित कर सकने के परिणामस्वरूप हुआ है, भाषा के रूप अथवा उसकी विकास परम्परा से इस नाम का कोई सम्बन्ध नही है।

हिन्दी गेय साहित्य का मूल

प्रत्येक प्राचीन भापा ने अपना रूप सगीत के माध्यम से सॅवारा है। आर्यों के घरबार की बोली सामगान मे बॅध कर वह संस्कृत काव्यभाषा बनी जिसके माध्यम से विश्व को चकित कर देने वाले साहित्य की सृष्टि हुई। जनभापा जब परिनिष्ठित काव्यभाषा बन जाती है तब, लोक हृदय की सहज आनदवृत्ति को उच्छ्वसित करने की शक्ति उसमे नही रहती। उसके जीवन का सगीत किसी नवीन लोकभाषा के माध्यम की खोज करने लगता है। नवीन गीत, नवीन पद, नवीन छन्द इस सरल सुबोध जनवाणी के आधार पर गु जरित होने लगते हैं। उसके हृदयस्पर्शी रूप से विमोहित होकर समर्थ रचनाकार उसकी ओर आकर्षित होते हैं,उसमे काव्य-रचना प्रारम्भ होती है और कुछ शताब्दियो मे वह समृद्ध और शालीन काव्यभाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। आज जब आधुनिक वैज्ञानिक साधनो से विश्व की दूरी कम होगयी है, प्रचार और प्रसार के साधन अधिक होगये है, राष्ट्रव्यापी शिक्षा की व्यवस्था तथा विचारों के आदान-प्रदान के कारण यह आदिम प्रक्रिया शिथिल पड़ गयी है, तब भाषा-विकास के इस मूल को समझना कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु जिस समय मानव ने वैज्ञानिक साधनो पर अधिकार नहीं कर पाया था तब उसकी भाषा के विकास, विनाश और नवभाषा निर्माण की कहानी यही रहा करती थी। कोई भी भाषा एक दो सहस्राब्दियो से अधिक अक्षुण्ण और अपरिवर्त्तित रूप मे लोक-व्यवहृत भाषा नहीं रह सकी।

सगीत और भाषा

ईसवी पॉचवी छठवीं शताब्दी मे इसी प्रकार नवीन रागों, नवीन छन्दों और नवीन भावों से प्रेरित होकर एक भाषा का जन्म भारत देश

मे हुआ था। दण्डी ने जब अपने काल की प्रचलित भाषाओं पर विचार किया तब उसे ज्ञात हुआ कि जनसाधारण ने परिनिष्ठित काव्यभाषा सस्कृत अथवा पाली का साथ छोड़ना प्रारंभ कर दिया है और उसके भ्रष्ट रूप का—अपभ्र श का व्यवहार प्रारभ कर दिया है। अतएव उसने काव्यादर्श मे लिखा·—

अपभ्रश और सगीत

आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता।

वास्तव मे यह वही लोकभाषा थी जिसे आधार बना कर दडी के समय का जन-समाज अपने प्रकृत सगीत को मुखरित करने लगा था। वह सगीत न पुराने मार्गी सगीत के शास्त्रीय नियमों को मानता था और न उसकी भाषा को। सगीत शास्त्र के अध्येताओ ने भी इस विभेद को देखा और मतग मुनि ने लगभग दण्डी के समय मे इस देशी संगीत को इस सीमा तक विकसित पाया कि उसे अपनी पुस्तक वृहद्देशी मे उसका वर्गीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस देशी सगीत के विषय मे मतग ने लिखा —

देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीति सज्ञित ।

इस देशी सगीत के गाने वालो का उल्लेख भी मतग ने कर दिया है—

अबलाबालगोपालै क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥

अबला, बाल, गोपाल और मौज मे आकर राजा इस देशी मे बडे अनुराग से गाते थे। शिष्ट समाज मे बैठकर तो राजा को भी मार्गी संगीत नियमबद्ध सस्कृत मे सुनना पडता था। मतंग के ये गोपाल वही है, जिन्हे दण्डी ने आभीरादि कहा है। इन गोपालों का सगीत देशी था और उसकी भाषा—पदों के बोल थे आभीरादि की बोली अपभ्र श—देशी भाषा मे। इस प्रकार इस नवीन भाषा का रूप-निर्माण सगीत के माध्यम से प्रारंभ हुआ। दैनिक बोलचाल की भाषा बने रहने पर कभी उसका रूप व्यवस्थित और परिमार्जित नहीं हो सकता था।

जिस अपभ्रंश या देशी भाषा का उद्भव दण्डी के काव्यादर्श अथवा मतग की वृहद्देशी के पहले हो चुका था, उसका रूप-निर्माण सिद्धों के पदों द्वारा हुआ। जो सहजिया सम्प्रदाय के पद लिखे गये, वे मूलत : सगीत के स्वरो मे गेय पद थे। उनके ये पद राग-रागिनियो मे बॉधे गये थे। अनेक सहजिया सत संगीत मे पारगत थे। लुइपा और कण्हपा के गायन की ख्याति अत्यधिक थी। जब इस भाषा मे स्वयभू और पुष्पदन्त जैसे महाकवियों ने अपने महाकाव्य लिखे तब उन्हें इस सगीत के माध्यम से सजी-सॅवरी भाषा मिली। उनके काव्य भी मूलत गायन के लिए ही थे, यह अवश्य है कि उनके समय तक उसकी निर्भर जैसी स्वच्छद एव प्रकृत उत्फुल्लता महासमुद्र के गंभीर घोष के रूप मे परिणत होगयी थी। इस भाषा का एक मोड नाथ पथ के पदों मे दिखाई देता है। स्वयभू और पुष्पदंत की वर्गिष्ठ भाषा अब सगीत के काम की नही रही थी। उसने रूप बदला। यह रूप जितना बदला जा सका, उतना ही अन्तर लुइपा और गोरखनाथ की भाषा मे है। गोरखवाणी भी सगीत के स्वरो मे आबद्ध है। उनके सम्प्रदाय और सगीत को साथ लेकर वह दक्षिण मे पहुँची और वे ही बोल तथा ध्वनियॉ ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ आदि के पदों मे सुनाई दी।

सिद्ध और नाथ

बगाल के सेनवंशी लक्ष्मणसेन के आश्रित महान कविगायक जयदेव (११७६-१२०५ ई०) के आविर्भाव ने भारत के सगीत और साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। जयदेव एक विचित्र सांस्कृतिक सधि के समय हुए थे। नालन्दा विश्वविद्यालय की देन सहज संप्रदाय का प्रभाव जिस भूमि पर था, उसी भूमि पर वे अवतरित हुए। उसी काल मे निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी द्वारा प्रतिपादित कृष्णभक्ति भी लोकप्रिय होती जा रही थी। जयदेव के गीतगोविन्द ने कृष्ण-भक्ति को समस्त उत्तर भारत मे लोकप्रिय बना दिया। उनका सगीत सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों द्वारा

जयदेव

पोषित था और उनकी भावना इन्ही वैष्णव भक्तों की थी। जयदेव स्वय भी माध्व के अनुयायी कहे जाते है तथा वे जयपुर और वृन्दावन भी आए थे * । कहा तो यह भी जाता है कि गीतगोविन्द प्रारम्भ मे देशी भाषा मे लिखा गया था, परन्तु यह अनुमान ठीक ज्ञात नही होता । सगीत के माध्यम से सस्कृत भाषा द्वारा लोकरजन का अन्तिम प्रयास गीतगोविन्द है। वह बहुत सीमा तक सफल भी हुआ । उसके द्वारा सस्कृत की पुन लोकभाषा के रूप मे प्रतिष्ठा तो न हो सकी, परन्तु लोक-सगीत की भाषा का रूप उससे प्रभावित अवश्य हुआ। उसका परोक्ष प्रभाव सिद्ध-नाथ परपरा के ब्राह्मण विरोधी सत कबीर, रैदास, पीपा, जभनाथ, दादू आदि की वाणियों मे दिखाई दिया और यही परोक्ष प्रभाव दक्षिण के नामदेव, ज्ञानदेव आदि की वाणी पर भी पडा । वैष्णव भक्तों की वाणी पर तो जयदेव का प्रभाव राजस्थान से बगाल तक प्रत्यक्ष दिखाई देता है। पूरब मे विद्यापति, चण्डीदास और स्वय चैतन्यमहाप्रभु के गेय पदसाहित्य की भाषा पर जयदेव की स्वर-लहरी की स्पष्ट छाप है। इन गीतों की भाषा सस्कृत की ओर अधिक उन्मुख है, मानो अपने आपको जयदेव की भाषा के साथ मिला देना चाहती है। वृन्दावन की सतत यात्राओ से उनके भावुक हृदयो पर यहाँ भी भाषा की भी छाप रह गयी और बगाल, असम तथा उडीसा मे जयदेव, विद्यापति और वैष्णवो की तीर्थस्थली वृन्दावन की मिश्रित भाषा ब्रजबोली उनकी भक्ति-भाषा बन गयी। जय-देव की वाणी ने मेवाड मे राणा कुम्भा को आकर्षित किया और उसका अत्यन्त मंजुल रूप मीराबाई के सगीत और साहित्य मे दिखाई दिया। ग्वालियर अपना सगीत धीरे-धीरे उत्कर्ष की ओर ले जा रहा था। परन्तु जयदेव की मधुर भक्ति का प्रभाव उसके साहित्य की भावना पर भी अवश्य पड़ा था ।

तेरहवी शताब्दी तक मध्यदेश की अपनी पृथक सगीत परम्परा थी

---

* परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सतपरपरा, पृष्ठ ६७ ।

और वह पूरब की इस धारा से बहुत कम प्रभावित थी। धुर पश्चिम और मध्यदेश में वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण जो सगीत पनप रहा था, तथा उसके सहारे जो भाषा बन रही थी उसके विषय मे अभी अधिक खोजबीन नही हुई है। परन्तु पन्द्रहवी शताब्दी मे उसका अत्यन्त विकसित रूप प्राप्त होता है। उसके आधार पर कुछ शताब्दियों पहले की उसकी रूपरेखा सामने अवश्य आती है। ईसवी तेरहवी शताब्दी मे पार्श्वदेव ने सगीतसमयसार ग्रथ लिखा। उसमे उसने काश्मीर के राजा मातृगुप्त, धार के राजा भोज, अनहिलवाड के चालुक्य राजा सोमेश्वर तथा महोबा के चन्देल राजा परमार्दिदेव को प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है। पार्श्वदेव स्वय अपने आपको संगीताकर कहता है। उसके विषय मे केवल यह ज्ञात होता है कि वह पहले ब्राह्मण था और फिर जैन धर्म मे दीक्षित हो गया। तेरहवी शताब्दी मे यह धर्म-परिवर्तन कही पश्चिम मे ही सभव हो सकता है, अतएव हमारा अनुमान है कि पार्श्वदेव मध्यदेश के हो सकते है। यही पर वे गुजरात के चालुक्य, महोबे के परमार्दिदेव तथा मालवे के भोज की सगीत पद्धतियों के संपर्क मे आए होंगे। यह खेद का विषय अवश्य है कि अभी तक तेरहवी शताब्दी का मध्यदेश का पदसाहित्य नही मिल सका है, परन्तु जिन चन्देलों की राजसभा मे नन्द कवि जैसे पदरचयिता, जगनायक जैसे प्रबन्धगायक तथा स्वयं परमार्दिदेव जैसे सगीत-ममज्ञ रहे हों, वहाँ उनके द्वारा पोषित हिन्दी मे पद न लिखे गये हो, यह सम्भव नहीं, जब कि सगीत-शास्त्र के ग्रन्थों मे सगीताचार्य का यह प्रधान लक्षण माना गया है कि उसे छन्द अलकार, भाषा एव पदरचना मे दक्ष होना चाहिए। कठिनाई यही है कि उनके द्वारा किसी सम्प्रदाय के पोषण मे पदरचना नहीं की गयी। इस कारण किसी मठ या साम्प्रदायिक प्रतिष्ठान मे उनकी रक्षा नहीं की गयी। राजकीय पुस्तकालयों को विदेशी आक्रान्ताओ ने नष्टभ्रष्ट कर दिया।

पार्श्वदेव और मध्यदेशीय सगीत

ईसवी चौदहवी शताब्दी मे मध्यकालीन सगीत एव इसके पदों का रूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है । दिल्ली मे अमीर खुसरो और उससे टक्कर लेने वाला गोपाल नायक * दोनों ही मध्यदेश के सगीत के प्रकाण्ड आचार्य थे। इस शताब्दी मे भारतीय संगीत मे क्रान्ति उत्पन्न करने वाली घटना भी हुई । भारतीय सगीत ईरानी सगीत के निकट सम्पर्क मे आया । इन दोनो की पुष्ट परम्परा के सम्मिश्रण से सगीत मे एक नयी चपलता, ताजगी और उत्फुल्लता आगयी। गोपाल नायक ने अनेक पद लिखे और उनके तथा अनेक अज्ञात-नाम सगीतज्ञों के द्वारा भाषा का रूप निखरने लगा । गोपाल के १२०० शिष्य थे जो उसके सिहासन को अपने कधों पर उठाकर चलते थे। उस काल के हिन्दू राजाओं की राजसभाओं मे चारण-भाटो द्वारा भी सगीत तथा उसकी अनुगामिनी भाषा पनपती रही। उसी को शेख तकी ने भाटों की भाषा और सगीत-शैली कहा है, † जो लोकरजक तथा प्रभावशाली भी थी।

मध्यदेश—चौदहवी शताब्दी

ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी के गेय साहित्य का इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट है। इस शताब्दी मे मध्यदेश के सगीत ने वह रूप धारण किया जिसके कारण "तान ग्वालियर की, औ कमान मुल्तान की" जैसी उक्तियॉ प्रचलित हुई । इस शताब्दी मे मेवाड के राणा कुंभकर्ण (राणा कुम्भा), मालवे के खिलजी, जौनपुर के शर्की, दिल्ली के लोदी, सभी देशी संगीत को प्रश्रय देने लगे थे। मेवाड़ के राणा कुम्भकर्ण ने सगीतराज नामक सगीत का ग्रन्थ लिखा और रसिक-प्रिया नामसे गीतगोविन्द की टीका भी लिखी। कुम्भकर्ण की दृष्टि मे भारतीय सगीत की त्रुटियॉ नही थी।

मध्यदेश—पन्द्रहवी शताब्दी

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६५ ।

† देखिए पीछे पृष्ठ ४३ ।

वे मस्कृत तथा मार्गी को पकडे रहना चाहते थे। गुजरात, मालवा, जौनपुर और दिल्ली मे जो देशी भाषा मे हल्के-फुलके चपल राग चल पडे थे, उनके मुकाबिले मे यह शास्त्रीय गभीर सगीत कितना ठहर सकेगा, यह वे न सोच सके। परन्तु राणा कुम्भा के गीतगोविन्द की मधुरवाणी की ओर आकर्षित होने के कारण एव सगीत-साधना की ओर प्रवृत्त होने के कारण हिन्दी को मरु-कोकिला मीरा की पदावली प्राप्त हुई। मानव-हृदय की अपने आराध्य के प्रति प्रेम भावना एव तन्यमता की जो उद्दाम और मनोहारी अभिव्यक्ति मीरा द्वारा हुई है, वह अन्यत्र न मिल सकी, अष्टसखाओ की वाणी मे भी नही। वैसे तो राजस्थान का पद-साहित्य गलता की रामानन्दी गद्दी के पयहारी और अग्रदास की रचनाओं मे भी मिलता है। स्वामी रामानन्द जी के शिष्यो मे अनन्तानन्द थे। उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी ने जयपुर के पास गलता जी मे नाथों की गद्दी पर अधिकार कर लिया। कृष्णदास जी मे रामानन्द एव नाथो की परम्पराओं का मिश्रण हुआ। उनके द्वारा गेय पद-साहित्य की परम्परा चलती रही।

पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व दिल्ली मे ख्याल गायकी प्रचलित हुई। इस ख्याल गायकी को ग्वालियर के सगीतज्ञो ने अपनाया। इन ख्यालो की भाषा हिन्दी ही होती थी, परन्तु बीच-बीच मे फारसी के शेर भी मिला दिए जाते थे*। यह अमीर खुसरो की देन है। जौनपुर मे चुटकुला चल पड़ा था। जौनपुर के सुल्तान हुसेन शर्की का यह प्रिय राग था। ग्वालियर से जौनपुर का मैत्री सम्बन्ध हो गया था, जहाँ एक राग मानकाल भी प्रचलित हुआ। यह राग ग्वालियर के मान का मान करने के लिए ही निर्मित ज्ञात होता है। मुल्तान मे शेख बहाउद्दीन जकरिया रागो का मिश्रण कर रहे थे। गुजरात का सुल्तान हुसेन

भारतीय सगीत पर ईरान का आक्रमण

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ ६७।

बहादुर भी भारतीय रागों को ईरानी रूप मे ढाल रहा था। ऐसे समय मे पुराने शास्त्रीय संगीत को पकडे रहने से उसका लोप होना अनिवार्य था।

इस सकट को ग्वालियर के तोमरो ने और विशेपत मानसिह तोमर ने देखा और समझा। यद्यपि देशी सगीत का प्रारम्भ मतग मुनि की वृहद्देशी के समय से ही हो गया था, परन्तु अब तक उसे सगीत शास्त्रियो से मान्यता नही मिल सकी थी, जिसका प्रमाण राणा कुम्भकर्ण का सगीत-निरूपण है। वह देशी सगीत अभी उसी स्थिति मे था जिसमे कुवलयमाला की देशी भाषा थी, जिससे पडित वर्ग नाक-भौ सिकोडने लगता था। मानसिह तोमर ने नियमो से जकडे हुए मार्गी को बिदा दी और उसके स्थान पर देशी को प्रस्थापित किया। इसके विषय मे मानसिह रचित मानकुतूहल का फारसी मे अनुवाद करने वाले फकीरुल्ला ने लिखा है —

ग्वालियर की सगीत को देन

"मार्गी भारत मे तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नही हुआ था। कहते हैं कि राजा मानसिह ने उसे (ध्रुपद को) पहली बार गाया था, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसमे चार पक्तियाँ होती हैं और सारे रसो मे बाँधा जाता है। नायक बैजू, नायक बख्शू और सिह जैसा नाद करने वाले महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड़ गये। इसके दो कारण थे। पहला यह कि ध्रुपद देशी भाषा मे देशवारी गीत था तथा मार्गी मे संस्कृत थी। इसलिए मार्गी पीछे हट गया और ध्रुपद आगे बढ गया। दूसरा कारण यह था कि मार्गी एक शुद्ध राग था और ध्रुपद मे सब रागों को थोडा-थोडा लिया गया है*।"

मानसिह तोमर के पूर्व गोपाल नायक के समय से ही हिन्दी मे— मध्यदेश की हिन्दी मे गेय पद लिखे जाते थे, परन्तु मानसिह ने उन्हें

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक : मानसिह और मानकुतूहल, पृष्ठ ९१।

अपनी शास्त्रीय व्यवस्था देकर सगीताचार्य नायको मे मान्य रूप दिया।

हिन्दी की पदरचना को सगीत मे मान्यता

मानकुतूहल की रचना ही उसने उस समय के देश के सभी प्रतिष्ठित सगीताचार्यो के परामर्श और सहयोग से की थी। उसकी राजसभा मे तो रामदास, बख्शू और बैजू जैसे महान गायक थे ही, उसने गुजरात से महमूद लोहग ,पूर्व से नायक पाडवीय और दक्षिण से नायक कर्ण को भी बुलाया और इन सबके परामर्श से मानकुतूहल की रचना की। इस प्रकार देशी सगीत और देशी भाषा को सर्वमान्य प्रतिष्ठा मिल गयी। उसके द्वारा उसने अपनी ध्रुपद गायकी पर भी मुहर लगवा ली जिसे ग्वालिअर ने विकसित किया था। मानकुतूहल मे नायक-सगीताचार्य के लिए पदरचना की योग्यता की पुन. पुष्टि की गयी "श्रेष्ठ गायक तथा गीतरचयिता को व्याकरण का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। पिगल और अलकार का भी अच्छा ज्ञान अनिवार्य है तथा उसे रस और भाव का भी' अच्छा ज्ञान आवश्यक है। "गीतरचयिता होना तथा गायन की ओर हार्दिक रुचि होना भी गायनाचार्यो को अभीष्ट है। उसके गीत के विषय विचित्र और अनूठे होना चाहिए। उसे प्राचीन रचनाएँ कण्ठस्थ होना चाहिए*।" परिणाम यह हुआ कि जो पद रचना गोपाल नायक के पहले प्रारभ होगयी थी, मानसिह तोमर के राज्य-काल मे उसे बहुत अधिक विकसित होने का अवसर मिला। मानसिह ने स्वय बहुत पद लिखे। फकीरुल्ला ने लिखा है "सावती, लीलावती षाढव, मानशाही, कल्याण—इनके गीत ग्वालियर वाले राजा मान ने लिखे हैं†।" उल्लेख यह भी मिलता है कि राजा मानसिह तोमर ने अपने तीन गायको से एक ऐसा सग्रह तैयार कराया था, जिसमे प्रत्येक वर्ग की रुचि के अनुरूप पद सग्रहीत थे‡।

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिह और मानकुतूहल, पृष्ठ १२२

† वही, पृष्ठ ८०।

‡ ग्लेडविन: आईने अकबरी, पृष्ठ ७३०।

भावभट्ट के अनूपसगीतरत्नाकर का उल्लेख हम पहले कर चुके है। हम यह भी लिख चुके है कि भावभट्ट बीकानेर के राजा अनूपसिह (सन् १६७४-१७०१) के आश्रित थे तथा सगीतशास्त्र के महान पण्डित थे।

ध्रुपद के पदो का रूप

अपने इस अनूपसगीतरत्नाकर मे भावभट्ट ने मानसिह तोमर द्वारा प्रचलित ध्रुपद का लक्षण देकर तोमर कालीन ग्वालियरी भाषा और उसके साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। भावभट्ट ने लिखा है :—

अथ ध्रौपद लक्षणम्

गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।
द्विचतुर्वाक्यसपन्न नरनारीकथाश्रयम् ॥१६५॥
शृगाररसभावाढ्य रागालापपदात्मकम् ।
पादातानुप्रासयुक्त पादातयमक च वा ॥१६६॥
प्रतिपाद यत्र बद्धमेव पाद-चतुष्टयम् ।
उद्ग्राह ध्रुवकाभोगोत्तम ध्रुवपद स्मृतम् ॥१६७॥

ग्वालियर के ध्रुपद के लक्षण मे भावभट्ट ने तत्कालीन पद-साहित्य के विषय मे अनेक महत्त्वपूर्ण बाते हमे बतला दी है। यह ध्रुपद सस्कृत के अतिरिक्त मध्यदेशीय भाषा एव साहित्य मे राजित था, अर्थात भावभट्ट के समय अठारहवी शताब्दी के प्रारभ तक मध्यदेशीय भाषा और साहित्य अपना विशिष्ट रूप और अस्तित्व रखते थे। ये पद छोटे-छोटे, दो-चार वाक्यो के, चार चरणों के होते थे। इनमे नरनारी की कथाएँ वर्णित होती थी। इनका मूल रस शृगार था। पदो के अन्त मे अनुप्रास अथवा यमक रहता था। उसके गेय होने के लिए जिन गुणो की आवश्यकता थी, वे भी उसमे थे। मानसिह तोमर कालीन गेय पद-साहित्य का समग्र रूप ही भावभट्ट ने ध्रुपद के लक्षण के व्याज से प्रस्तुत कर दिया है। फकीरुल्ला और भावभट्ट के कथनों को एक साथ देखने से, ग्वालियर के सगीत ने हिन्दी के रूप-निर्माण मे जो योग दान किया था, उस पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। ग्वालियरी ध्रुपद की

सगीतलहरी जिस गेय पद-साहित्य के आधार पर नि सृत हुई थी, उसी ने मध्यदेशीय भाषा को नवीन परिमार्जित रूप मे ढाल कर उसे ग्वालियरी भाषा नाम दिया।

यह तथ्य स्मरणीय है कि यह पद-रचना मानसिह के बहुत पूर्व से ही ग्वालियर मे प्रारम्भ हो गयी थी। गोस्वामी विष्णुदास का पद-साहित्य उनके रुक्मिणी मगल मे प्रचुर परिमाण मे मिला है। विष्णुदास डू गरेन्द्रसिह तोमर (१४२४-१४५५) के समकालीन थे। इनका रचनाकाल सन् १४३५ ई० के लगभग माना गया है। इनके पदो मे भाषा तथा भावो का जो रूप मिलता है वह स्पष्ट घोषित करता है कि उसकी परम्परा कम से कम दो सौ वर्ष पहले की है। रागरागिनियो मे बँधे हुए ये पद मध्यदेश की सगीत पद-परम्परा के पन्द्रहवी शताब्दी के प्रथम चरण तक के विकास के सुन्दर उदाहरण है। यहाँ हम विष्णुदास के कुछ पद रुक्मिणी मगल से उद्धृत करते है —

ग्वालियर का पद-साहित्य — विष्णुदास

राग गौरी

गुण गाऊँ गोपाल के चरण कमल चित लाय।
मन इच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय॥
भीषम नृप की लाडली कृष्ण ब्रह्म अवतार।
जिनकी अस्तुति कहत हौ सुन लीजौ नरनार॥

रागनी पूर्वी

आज बधाई बाजे माई बसुदेव के दरबार।
मन मोहन प्रभु व्याह कर आए पुरी द्वारिका राजै॥
अति आनन्द भयो है नगर मे घर घर मंगल गाई।
अगन तन मे भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज॥
बाजे बाजत कानन सुनियत नौबत घन ज्यू बाज।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजे दुख भाज॥

नाचत गावत मृदग बाज रग बरसावत आज ।
विष्णुदास प्रभु की ऊपर कोटिक मन्मथ लाज ॥

पद

तुछ मत मोरी थोरी सी, बौराई, भाषा काव्य बनाई ।
रोम रोम रम्ना जो पाऊँ महिमा वर्णं नहि जाई ॥
सुरनर मुनि जन ध्यान धरत है गति तिनहूँ नही पाई ।
लीला अपरम्पार प्रभु की को करि सकै बडाई ॥
वित्त समान गुन गाऊँ श्याम के कृपा करी जादोराई ।
जोकोई सरन पडे है रावरे कीरति जग मे छाई ॥
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी से प्रीति लगाई ॥

कबीर का जन्म ई० सन् १३९९ का बतलाया जाता है* । वे सौ वर्ष से ऊपर जीवित रहे थे । विष्णुदास की भाषा से ज्ञात होता है कि उसकी भाषापरम्परा कम से कम एक-दो शताब्दी पहले की है ।

कबीर और विष्णुदास

कबीर का रचनाकाल विष्णुदास के पश्चात का ही होना चाहिए । काशी के कबीर को नाथ-पथ के पदों की परम्परा मिली थी । परन्तु उनकी भाषा पर इस सस्कृत-शब्दावली-प्रधान मध्यदेश की भाषा का प्रभाव स्पष्ट है —

बहुरि हम काहे कू आवहिगे ।
बिछुरे पच तत्त्व की रचना तब हम रामहि पावेगे ।
पृथ्वी का गुण पानी सोध्या पानी तेज मिलावहिगे ॥†

कबीर और विष्णुदास की भाषा की तुलना करते समय कुछ तथ्य विशेष रूप से स्मरणीय है । हिन्दी मे संस्कृत शब्दो का प्रयोग कर उसमे

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक महात्मा कबीर, पृष्ठ ४९ ।

† डॉ० रामकुमार वर्मा कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ १४१ ।

देववाणी कहलाने वाली भाषा से रूपसाम्य लाने का प्रयास केवल नवीन शब्दो की आवश्यकता के कारण नही हुआ था, जैसा श्री राहुल जी ने विचार व्यक्त किया है * । इसके पीछे प्रधान कारण ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान था। उस समय के समस्त हिन्दू धर्मावलम्बी राजाओं की राजसभाओ मे यह कार्य हुआ । सस्कृत का प्रचार यद्यपि राज-सभाओ मे राज-पडितो मे था, किन्तु उसके द्वारा जनसम्पर्क नही साधा जा सकता था । जन साधारण मे अपभ्र श अथवा उससे प्रभावित हिन्दी का प्रचार था। इधर उस समय तक अपभ्र श भाषा जैन धर्म की पर्या-यवाची हो गयी थी और आज भी है। अतएव जब देशभाषा को वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए स्वीकार करना ही पड़ा, तब उसका वह रूप ग्रहण नहीं किया गया जो जैन मतावलम्बियो ने प्रचलित रखा था, जिसमे सप्र-यास सस्कृत का तत्सम अथवा तदभव रूप भी वर्जित था । सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय भी ब्राह्मण-विरोधी होने के साथ-साथ प्रचार कार्य मे सस्कृत के विरोधी थे और इस प्रकार सस्कृत के बहिष्कार की लहर भी समस्त देशव्यापी हो गयी थी। राजस्थान की राजसभाओ के चारणों-भाटो द्वारा सस्कृत शब्दो को भाषा मे स्थान तो दिया गया, परन्तु जैन प्रभाव से पूर्णत आबद्ध होने के कारण वे रूढ़ियो को पूर्णत तोड न सके। उनकी भाषा इन दोनो प्रवृत्तियो के बीच समझौते की भाषा है। चन्दवरदायी (ई० ११६८) ने दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान की राजसभा मे इस प्रकार की भाषा लिखी :—

सस्कृत शब्दो का प्रयोग क्यो ?

मनहु कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय ॥
विगसि कमल स्रिग, भमर, बेनु, खजन, मृग लुट्टिय ।
हीर, कीर, अरु बिब, मोति नख सिख अहिघुट्टिय ॥

---

* राहुल साकृत्यायन हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका ।

समस्त पद्य सस्कृत पदावली से विभूपित कर 'बन्निय'-'पिन्निय' तथा 'तुट्टिय'-'घुट्टिय' चन्द की भापा सम्बन्धी असमर्थता के कारण नही आए है, समझौते की भावना से आए है। सस्कृत शब्दावली राजस्थान के जैन प्रभाव से दूर दिल्ली मे मुक्त होने के कारण तथा हिन्दू चौहानो के प्रभाव के कारण है। अजमेर और दिल्ली मे ही बहुत अन्तर था। अजमेर का नरपति नाल्ह (ई० ११५५) का चरितनायक और सभवत आश्रयदाता भी, जगन्नाथ का भक्त था, फिर भी वह इस प्रकार की भाषा लिखता था —

क्यू विसरायो गोरी पूरब देश ?
पाप तणउ तिहा नही प्रवेश ॥
अति चतुराई दीसई घणी।
गगा गया छै तीरथ योग ॥
वाराणसी तिहा परसने।
तिणि दरसण जाई पातग न्हासि ॥

इस काल मे जैसे-जैसे अजमेर के पश्चिम की ओर चलते जाएँ भाषा का पूर्वप्राकृत रूप बढ़ता ही मिलता जायगा, यहाँ तक कि हेमचन्द्र सूरि के गुर्जर देश मे पहुँचते-पहुँचते वह वर्तमान गुजराती का प्राचीन रूप बन जाती है। मध्यकाल मे सस्कृति पर धार्मिक प्रवृत्तियो का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता था। गुजराती और हिन्दी को भिन्न-भिन्न भाषाओं का रूप देने मे जैन धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। मराठी, मैथिली और बगला का केन्द्रीय भाषा से विभेद उत्पन्न करने मे सिद्ध और नाथो का कितना हाथ रहा है, यह लिख सकना सम्भव नही, क्योकि उनके विकास मे अन्य तत्त्व भी कार्य कर रहे थे। यह तो स्पष्ट ही है कि उर्दू को केन्द्रीय हिन्दी भाषा से इस्लाम ने पृथक किया है।

धर्म का भाषा पर प्रभाव

कबीर सिद्ध और नाथ पन्थ की ब्राह्मण विरोधी परम्परा को लिये हुए थे, साथ ही रामानन्द के शिष्य भी थे। उस शिष्यत्व के कारण तो

उनके पदों मे संस्कृत-हिन्दी का रूप आया, तथा सिद्ध-नाथों की परपरा के कारण उनके द्वारा अनेक रचनाओं मे उस शिष्ट काव्यभाषा की अवहेलना हुई । उनके द्वारा मुस्लिम भक्तो को भी प्रभावित करने का प्रयास किया गया । यद्यपि शेख तकी तक पहुँचने के लिए उनके द्वारा फारसी-अरबी के शब्दों का भी विशेष रूप से प्रयोग हुआ, परन्तु वेद-कतेब का साथ-साथ खण्डन करने पर उन्हें दुर्दशा ही भोगनी पड़ी । 'वेद' को मान्यता देने वाले सहिष्णु तो सह गये, परन्तु 'कतेब' वालों ने उन्हें काशी से मगहर भेज कर ही चैन लिया । उस समय ग्वालियर मे जिस सस्कृत-प्रधान शालीन और शिष्ट काव्यभाषा का निर्माण हुआ था, उसे अंगीकार करके भी, साम्प्रदायिक परिस्थितियो के कारण कबीर की भाषा डगमगाती रही, मसिकागद छ्यो नही के कारण नहीं । इतना अवश्य है कि कबीर की रचनाओं की भाषा यह प्रकट करती है कि ग्वालियर मे विष्णु-दास और उसके पूर्व देशी भाषा को सस्कृत-परक बना कर जो शालीन रूप दिया गया था उसको कबीर के समय मे पूरब मे काशी और मगहर तक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी । कबीर और विष्णुदास की भाषा की समता यह स्पष्टत प्रकट कर देती है ।

कबीर की भाषा

विष्णुदास के पश्चात जो पद-साहित्य मिला है वह मानसिह तोमर के समय का है । मानसिह तोमर की सभा मे यद्यपि अनेक सगीतज्ञ थे, परन्तु इनमे बैजू तथा बख्शू नायक विशेष उल्लेखनीय है । बैजू के पदों मे काव्यत्व गुण अधिक है और बख्शू का ध्यान सगीत की ओर अधिक रहा । बैजू का एक पद है —

बैजू और बख्शू

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन ते ।
गोपी रीझि रही रसतानन सो सुध बुध सब बिसराई ।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन ।

जीव जन्तु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सबके प्रानन।
बैजू बनवारी बसी अधर धरि वृ दावन-चन्द बस लिये सुनत ही कानन ॥

नायक बख्शू का ध्यान पद के रस और भाव की ओर उतना न था। उसका एक ध्रु पद का पद है *—

राग सुहारू उदय नवरग पगी,
उत देख प्यारे कर दर्पण मे।
निरखि चहूँ दिसि अलि नैनन जब ही,
प्यारी सजली भई भोर मगाई।

आज के संगीतज्ञों एवम् पुस्तक संग्राहकों की पिटारी मे ये पद भरे पडे हैं। जब उनका समग्ररूपेण उद्धार हो सकेगा, तब यह परम्परा पूर्णत सामने आ सकेगी।

इन पदों के आधार पर नि सृत संगीत की धाक चारों दिशाओं मे जमा कर और ग्वालियर की तान तथा ग्वालियरी भाषा को स्थायित्व देकर तोमरों की राजसभा मानसिह की मृत्यु (सन् १५१७ ई०) के पश्चात कुछ वर्षों मे ही बिखर गयी। ग्वालियर की गायकी को ओड़छा, रीवॉ, गुजरात, सीकरी, दिल्ली आदि राजदरबारों मे स्थान मिला। उसके गुणग्राहक सब जगह मौजूद थे, परन्तु उन्हे विशेष रूप से आकृष्ट किया ब्रजभूमि और अकबरी दरबार ने।

ग्वालियरी संगीत और पदसाहित्य का विकेन्द्रीकरण

इस प्रकार ग्वालियर के गायक और उनके साथ ग्वालियरी भाषा उत्तर की ओर गयी। जिन गायकों का भक्ति की ओर झुकाव था वे वृन्दावन, गोकुल और मथुरा मे रम गये, और जिन्हे वैभव प्रिय था वे मुगल राजसभा मे पहुँच गये या बुला लिये गये।

सूरदास के जन्मस्थान तथा उनकी भाषा पर विशेष प्रकाश हम आगे डालेगे। यहाँ यह देखना है कि ग्वालियर का सगीत और

* बख्शू का यह पद हमने फकीरुल्ला के मानकुतूहलके अनुवाद से लिया है, वह फारसी लिपि मे होने के कारण ठीक नही पढा जा सका।

पदसाहित्य सूरसागर मे भी मिलता है और उसकी एक धारा मुगल दरबार मे भी रसवर्षण करने लगी थी। श्री भातखण्डे का कथन है कि अकबर बादशाह के दरबार मे जो प्रसिद्ध गायक होते थे, वे सारे ध्रुपदिये अर्थात् ध्रुपद गाने वाले ही होते थे* । अकबरी दरबार मे अबुल फजल द्वारा आईने अकबरी मे छत्तीस संगीतज्ञों की नामावली दी गयी है। इनमे से पन्द्रह ग्वालियर के थे† —

मुगल दरबार और ग्वालियरी सगीत

मियां तानसेन ग्वालियर वाले :	जिसके समान कोई गायक पिछले एक हज़ार वर्ष से भारतवर्ष मे नही हुआ।
बाबा रामदास ग्वालियर वाले	गायक
सुभान खां ग्वालियर वाले	गायक
श्रीज्ञान खा ग्वालियर वाले	गायक
मिया चाद ग्वालियर वाले	गायक
बिचित्र खा सुभान खा के भाई	गायक
बीर मडल खा ग्वालियर वाले	सरमंडल वादक
शिहाब खा ग्वालियर वाले	बीन वादक
सरोद खा ग्वालियर वाले	गायक
मिया लाल ग्वालियर वाले	गायक
तानतरग खा तानसेन का पुत्र	गायक
नानक ग्वालियर वाले	गायक
नायक चर्चू ग्वालियर वाले	गायक
सूरदास बाबा रामदास का पुत्र	गायक
चाद खा ग्वालियर वाले	गायक

* विष्णु नारायण भातखण्डे हिन्दुस्तानी सगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका, चौथी पुस्तक, पृष्ठ ४६।

† ब्लोचमन . आईनेअकबरी, पृष्ठ ६८०-६८२।

इनमे से तानसेन के विषय मे अबुलफजल ने जो कुछ लिखा है उसके साथ मानकुतूहल के फारसी मे अनुवाद करने वाले फकीरुल्ला ने जो लिखा है वह भी मानसिह की राजसभा के सगीत-वैभव पर विशेष प्रकाश डालता है। फकीरुल्ला लिखता है 'सगीत रसिकों को ज्ञात होना चाहिए कि रागसागर स्वर्गवासी सुल्तान अकबर के समय मे रचा गया, और इसमे बहुत से राग 'मानकुतूहल' के विपरीत लिखे गये है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मानकुतूहल और 'रागसागर' के काल मे बहुत अतर है। उस समय नायक (गायनाचार्य) थे, परन्तु अकबर के काल मे कोई भी गायक सगीत-शास्त्र के सिद्धान्तों मे राजा मान के काल के गायकों को नहीं पाता। दूसरे, सम्राट अकबर के समय बहुधा अताई व्यक्ति थे, जिन्हें गायन का व्यावहारिक ज्ञान तो था, परन्तु वे गायन के सिद्धान्त से अपरिचित थे। मियां तानसेन, सुभान खां फतेपुरी, चांद खा और सूरज खां (दोनों भाई थे) मियां चाद जो तानसेन का शिष्य था, तानतरग खां तथा बिलास खां जो तानसेन के पुत्र थे, रामदास मुंड़िया डाढी, मदन खां, मुल्ला इशहाक खां डाढ़ी, खिजर खां, इनके भाई नबाब खां, हसन खां ततबनी—सभी अताई श्रेणी मे आते हैं। बाज बहादुर—नवाब मालवा, नायक चर्चू, नायक भगवान, सूरतसेन—मिया तानसेन के पुत्र, लाला और देवी (दोनो ब्राह्मण भाई) बाद खां का लडका आकिल खां— ये किसी न किसी मात्रा मे सगीत के सिद्धान्तों से परिचित थे, परन्तु फिर भी नायक बैजू, नायक पांडे तथा नायक बख्शू की भाँति सगीत के आचार्य नही थे* ।' नायक बैजू का उल्लेख फकीरुल्ला ने भारत के सर्वश्रेष्ठ नायक गोपल के समकक्ष किया है †। बख्शू की ख्याति भी अद्वितीय है। बख्शू मानसिह के पश्चात भी ग्वालियर मे रहा। मानसिह के पुत्र विक्रमाजीत के पानीपत मे मरने के

तानसेन

---

* प्रस्तुत लेखक की पुस्तक मानसिंह और मानकुतूहल, पृष्ठ १२६-१३०।

† वही, पृष्ठ ८४।

पश्चात (सन् १५२६) ही वह कालिंजर के राजा कीरत के आश्रय मे चला गया। कालिंजर से उसे गुजरात के सुल्तान बहादुर (ई०१५२६-१५३६) ने बुला लिया*।

तानसेन मकरन्द पांडे के पुत्र थे और उनका जन्म ग्वालियर के पास बेहट नामक ग्राम मे हुआ था। इनका पूर्व नाम त्रिलोचन पांडे था।

तानसेन का प्रारंभिक जीवन

इनने स्वामी हरिदास से पिंगल सीखा तथा संगीत की भी शिक्षा ली। कुछ समय मुहम्मद गौस से गायन विद्या सीखी, जिसके कारण वे त्रिलोचन से तानसेन भी बने और उन्हे ईरानी संगीत की चपलता भी मिली। यहाँ से वे शेर खां (शेरशाह) के पुत्र दौलत खा के पास चले गये। उसके पश्चात वे रीवाँ नरेश राजा रामचन्द्र बघेला की राजसभा मे चले गये। इनके संगीत की ख्याति सम्राट अकबर तक पहुँची। अकबर ने रामचन्द्र को विवश किया कि वे तानसेन को उसकी सभा मे भेज दे। इस प्रकार सन् १५६४ ई० मे ग्वालियर का यह महान कलावन्त उस समय के संसार की सबसे महान राजसभा की नवरत्नमाला का मणि बना।

ग्वालियर के संगीत और पद-साहित्य की दूसरी धारा उसकी भक्त-मंडली के साथ गोकुल-वृन्दावन गयी। वृन्दावन पर बंगाल की भक्ति-भावना का प्रभाव पड़ा। जयदेव से चैतन्य महाप्रभु तक की दृष्टि वृन्दावन की ओर रही। परन्तु यहाँ गौड़ीय संगीत प्रभाव न जम सका। पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य मे ही ग्वालियर का संगीत मथुरा-वृन्दावन पहुँच चुका था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक यहाँ के सन्त ध्रुपद को अपना चुके थे। मथुरा के विष्णुपद और हरिदास की डागुर वाणी संगीत के इतिहास मे प्रसिद्ध हैं। विष्णुपदों की हिन्दी मे सर्वप्रथम रचना विष्णुदास की

हरिदास की डागुर वाणी

---

* ब्लोचमन आईने अकबरी, पृष्ठ ६७९।

मिलती है। परिशिष्ट मे हमने विष्णुदास के कुछ पद दिये भी हैं। हरिदास की डागुर वाणी विष्णुदास के सरक्षक महाराज डूगरेन्द्रसिंह से सम्बन्धित है। डूगरेन्द्रसिंह के नाम डोगरसिंह तथा डूंगरसिंह भी साहित्य और शिलालेखो मे मिलते हैं। सगीत के इतिहासो मे हरिदास की डागुर वाणी का रहस्य समझा नहीं जा सका है। यद्यपि उन्हे ध्रुपद* गायकी का पारगत माना जाता है, परन्तु उनकी संगीत-शैली का यह विचित्र नाम डागुर वाणी क्यो पड़ा, यह समझ मे न आने का मुख्य कारण डूगरेन्द्रसिंह और विष्णुदास से अपरिचित होना ही है†। स्वामी हरिदास मधुकरशाह बुन्देले के गुरु थे। इन्हो का शिष्यत्व मधुकरशाह के गुरु हरिराम व्यास ने स्वीकार किया था और इन्ही से तानसेन ने सगीत सीखा था।

सूरदास का सगीत और पद-साहित्य

गोकुल के सगीत और पद-साहित्य का प्रतिनिधित्व आंतरी के गोविन्द स्वामी तथा अब तक किसी अज्ञात स्थान के सूरदास करते हैं। वे भी ध्रुपद गायकी को अपनाए हुए थे। उनमे से गोविन्द स्वामी पर तो हम आगे लिखेंगे, पहले सूरदास के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन कर ले। सूरदास का शरणागति (पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होने) का समय सन् १५१० अथवा १५१६ माना जाता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य का वरदहस्त प्राप्त करने के पूर्व भी वे पद-रचना तथा सगीत-साधना करते थे। वल्लभाचार्य के सम्पर्क के पश्चात उन्होने 'सूर है के घिघियायवो' तो छोड़ दिया,

---

* विष्णु नारायण भातखण्डे हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक मालिका, चौथी पुस्तक, पृष्ठ ४६।

† यहाँ यह भी स्मरण रखने की बात है कि अहीरों का एक गोत्र 'डागुर' है और पेशवाओ के काल तक जटवारा, भदावर, कछवाहधार, तँवरधार, शिकरवारा तथा गूजरधार, अर्थात् समस्त ग्वालियर-नरवर क्षेत्र 'अहीरवाडा' कहलाता था। यह भी इस 'डागुर वाणी' का एक रहस्य है।

परन्तु संगीत और पद-साहित्य की इस ग्वालियरी परम्परा को नही छोडा। यह सम्भव नही था। उसी के कारण वल्लभाचार्य जी ने उन्हे श्रीनाथ जी के मन्दिर को अलकृत करने के योग्य समझा था। तात्पर्य यह कि सूरदास को ग्वालियर का सगीत और पद-साहित्य का पुष्ट रूप प्राप्त था, उनके सूरसागर मे वही निर्मल जल भरा हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि कृष्ण-चरित्र के गान मे गीतिकाव्य की जो धारा पूरब मे जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसका अवलम्बन सूरदास ने किया*।" गोकुल मे भी बगाल और मिथिला के कृष्णभक्त विद्यमान थे। श्रीनाथ जी के मन्दिर की सेवापूजा प्रारम्भ मे बगालियों के हाथों मे वल्लभाचार्य के समय मे थी। उनके द्वारा जयदेव और विद्यापति के साहित्य से सूरदास का परिचय भी हो गया होगा, परन्तु यह सत्य नही कि सूर का गीतिकाव्य जयदेव और विद्यापति की परम्परा का है। यह परम्परा ग्वालियर की है। जयदेव-विद्यापति की राग-रागिनियाँ सूर के समय तक रूप और नाम भी बदल चुकी थी। सूरदास ने जिन राग-रागिनियो के नाम दिये है, वे ग्वालियर के मानसिंह की सभा के हैं, न कि जयदेव और विद्यापति के†।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पन्द्रहवी शताब्दी तक मध्यदेश की भाषा का रूपनिर्माण सगीत के पदों के माध्यम से हो चुका था। हिन्दी के गेय पदों की परम्परा गोपाल नायक के पहले से प्रारम्भ होकर ग्वालियर मे वह पूर्ण विकसित रूप प्राप्त कर सकी। इस संगीत के

---

* रामचन्द्र शुक्ल सूरदास, पृष्ठ १४७।

† इसके लिए जयदेव, विद्यापति एव सूरदास के पदो की सगीत की पृष्ठ-भूमि का अध्ययन आवश्यक है। मानकुतूहल की राग-रागिनियो के आधार पर सूरसागर का अध्ययन सूर और जयदेव के रागो की विभिन्नता स्पष्ट बतलाता है। प्रस्तुत पुस्तक के लिए यह अत्यधिक विषयातिरेक होगा।

माध्यम द्वारा जिस विशाल पद-साहित्य का निर्माण हुआ, उसी का एक अभिन्न अश सूरदास का सूरसागर है। एक अश हम इसलिए कहते है कि सोलहवी शताब्दी मे ग्वालियर की पदरचना तथा उसके सगीत को लेकर मथुरा-वृन्दावन और मुगल दरबार मे जाने वाले अनेक सगीत-पदकारों के विशाल पद साहित्य का न अभी तक सकलन ही हुआ, न अध्ययन ही। मानसिह के पूर्व गोपाल नायक से लेकर विष्णुदास तक के पद-साहित्य का अभी सग्रह और अध्ययन नही हुआ। उनसे कितने सागर भर सकेंगे, यह अनुमान कर सकना कठिन है। विभिन्न पदकारों की अनुभूति और सामर्थ्य के भेद के कारण उनके काव्य-सौष्ठव मे अन्तर हो सकता है, परन्तु भाषा और परम्पराओ मे अन्तर नहीं हो सकता। इसी प्रचलित परम्परा मे रचना करने के उद्देश्य से गोस्वामी तुलसीदास की गीतावली, विनयपत्रिका और कृष्णगीतावली लिखी गयी। हिन्दी के पद-साहित्य को इतनी वैभवशाली सगीत और पद-परम्परा ग्वालियर ने दी थी। यह भी एक प्रबल कारण है जिससे मध्यदेश की भाषा का नाम ही ग्वालियरी भाषा हुआ। यह ग्वालियरी भाषा ग्वालियर के सगीत की देन है। इस प्रकार हिन्दी की मध्यकालीन काव्यभाषा का रूप-निर्माण करने का श्रेय है ग्वालियर के ध्रुपद की तान को।

ग्वालियरी भाषा ग्वालियरी सगीत की देन

सूरदास की जन्मभूमि

सूर-साहित्य के सगीत और पद-साहित्य के मूल पर विचार करने के पश्चात हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि सूर को ग्वालियर का सगीत और उसकी पद-रचना-परम्परा का दाय मिला था अथवा उसी प्रवाह का एक छोर सूरसागर के रूप मे भरा दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जब लिखा "सूरसागर किसी चली आती हुई परपरा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, आगे चलने वाली परपरा का मूल रूप नहीं*" तब वे एक बहुत बड़े सत्य को प्रकट कर गये। पिछले परिच्छेद मे हमने पन्द्रहवीं शताब्दी तक की जिस सगीत-साधना एव पद-रचना का उल्लेख किया है, उससे अपरिचित होते हुए भी आचार्य शुक्ल की प्रत्युत्पन्नमति ने उनसे यह कथन कराया था। परन्तु इस गेय पदपरम्परा से परिचय न होने के कारण उन्होंने लिखा "ध्यान देने की बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा मे सबसे पहली कृति इन्ही की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य मे डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालो को उलझन मे डालने वाली होगी†।"

सूर-साहित्य और ग्वालियर

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों की उलझन का जहाँ तक प्रश्न है, सो उस पद-परपरा को ब्रजभाषा की रचना मानकर स्वयं आचार्य

---

* रामचन्द्र शुक्ल सूरदास, पृष्ठ १६८।

† वही।

शुक्ल में उलझन खडी करती है। ब्रजभाषा की वह पहली रचना भले ही हो, परन्तु ग्वालियर की वह अन्तिम रचना नही थी। यह भाषा-परपरा—शिष्ट और स्वीकृत काव्यभाषा, नाम बदल कर भी अपने मूल रूप को ही धारण किये रही। इस बात को आचार्य शुक्ल ने अधूरी जानकारी के आधार पर भी, सही रूप मे व्यक्त किया। सूर की भाषा के विषय मे वे लिखते हैं "सूर की भाषा बिलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नही है। 'जाको,' 'तासों' 'बाको' चलती ब्रजभाषा के रूपों के समान ही 'जेहि' 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल मे तो अब तक हैं, पर ब्रज की बोलचाल में सूर के समय मे भी नही थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है, जैसे 'आहि लगै सोई पै जानै, प्रेम बान अनियारौ'। गोड, आपन, हमार आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं। कुछ पजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं, जैसे महँगी के अर्थ मे 'प्यारी' शब्द। ये बातें एक व्यापक काव्यभाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।" यह व्यापक काव्यभाषा गोपाल नायक, बैजू, बख्शू तथा अन्य पचासों ग्वालियर के नायक, विष्णुदास, थेघनाथ आदि बना चुके थे। अयोध्या का मानिक अवध के प्रयोग भी ले आया होगा। जाको, तासों, बाको ब्रज की बोली के रूप हैं, परन्तु व्यापक रूप मे से वे मध्यदेश की भाषा के रूप है। केशवदास तो बाद के है, इस पुस्तक के अन्त मे जो पन्द्रहवी शताब्दी के ग्वालियर के उद्धरण दिये गये हैं, उनमे ये सब रूप मौजूद हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा उल्लिखित व्यापक काव्यभाषा यही है। यही रूप सूर की भाषा का है।

सूर की भाषा

सूर की भाषा को आचार्य शुक्ल उस ब्रजबोली मे बाँधना चाहते थे जिसके विषय मे श्री किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है "मै साहित्यिक ब्रजभाषा की बात लिख रहा हूँ, भौगोलिक ब्रजबोली की नहीं। वह तो सकुचित दायरे में है*।" नाम जो पकड़ा गया वह अज्ञानतावश, पर

* किशोरीदास वाजपेयी ब्रजभाषा का व्याकरण, पृष्ठ ८८।

रूप न सूर की भाषा का वह है, न व्रजभाषा के कथित किसी काव्य का। उसका रूप तो वह व्यापक काव्यभाषा का ही है जो ग्वालियर मे पन्द्रहवी शताब्दी मे दिल्ली, अवध, मेवाड आदि के निकट सम्पर्क से बना। इन दोनो विद्वानो के द्वारा प्रयुक्त नाम को अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं, केवल उनके द्वारा भाषा के रूप निरूपण को देखना पर्याप्त है। व्रजभाषा के रूप के विषय मे श्री अयोध्यसिंह उपाध्याय ने लिखा है "मैने व्रजभाषा की जो विशेषताएँ पहले बतलाई है वे सब उनकी (सूरदास की) भाषा मे पाई जाती है, वरन् यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा के आधार से ही व्रजभाषा की विशेषताओं की कल्पना हुई है* ।" और हम यह ऊपर दिखा चुके हैं कि सूर की भाषा और उनके पद-साहित्य का मूल कहाँ है। सभवत इससे स्पष्ट हो सकेगा कि व्रजभाषा केवल एक नाम है—प्रतीक मात्र, मूल है ग्वालियरी भाषा।

व्रजभाषा और व्रजबोली

हिन्दी साहित्य के इतिहास विवेचक निश्चयात्मक रूप से अभी तक हिन्दी के निर्माताओ के जीवन के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी एकत्रित नहीं कर सके हैं और जो भी सामग्री उपलब्ध हुई है उसका विवेचन व्यक्तिगत धारणाओ के आधार पर हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास की जन्म-भूमि अभी तक राजापुर, सौरो और अयोध्या के बीच भटक रही है। सूरदास भी इसके अपवाद नही। सूरदास की जीवनी का निर्णय बहुधा पुष्टिमार्गी वार्ताओं के आधार पर हुआ है। उन्ही के आधार पर उनका जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम मे बताया जाता है, उन्हें सारस्वत ब्राह्मण और जन्मान्ध लिखा जाता है। परन्तु इन वार्त्ताओं मे से निरपेक्ष

सूरदास की जन्म-भूमि

---

* अयोध्यासिंह उपाध्याय . हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ २४८।

शुद्ध इतिहास खोजने का प्रयास हमारे ज्ञानचक्षुओ पर भी पर्दा ही डाले रहेगा । उनका निर्माण सत्य-निरूपण करने के लिए नही हुआ, उनका मूल उद्देश्य साम्प्रदायिक और राजनीतिक था । इस उद्देश्य के लिए सत्य को विद्रूप करने मे वार्त्ताकार जरा भी नही हिचके ।

यह छोटी सी पुस्तक सूर की विस्तृत जीवनी निर्णय करने के लिए उपयुक्त स्थान नही है, फिर भी हम सूरदास के जन्मस्थान के विषय मे सक्षिप्त रूप से कुछ प्रकाश अवश्य डाल देना चाहते हैं, क्योंकि इससे सूर की भाषा के मूल पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है ।

सूर की भक्ति का रूप

इस सम्बन्ध मे कुछ तिथियॉ स्मरण रखने की आवश्यकता है । सूरदास का जन्म सन् १४७८ (सवत १५३५ वैशाख सुदी ५) मे हुआ था, ऐसा पुष्टि सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है । गोस्वामी वल्लभाचार्य की शरण मे वे लगभग सन् १५१० मे गये,* अर्थात वे उस समय लगभग बत्तीस वर्ष के थे । इसके पूर्व वे बहुत पद-साहित्य लिख चुके थे, यह भी निश्चित है । उस पद-साहित्य पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि वे कभी राम के भक्त भी रहे है । सूरका एक पद है —

राम भक्तवत्सल निज बानौ† ।
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहि, रक होई कै रानौ ।
सिव, ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु, हौ अजान नहि जानौ ।
हमता जहॉ तहॉ प्रभु नाही, सो हमता क्यौ मानौ ?
प्रगट खभ तै दये दिखाई, जद्यपि कुल को दानौ ।
रघुकुलराघव कृस्न सदा ही गोकुल कीन्हौ थानौ । आदि ।

राम और कृष्ण की यह सम्मिलित भक्ति उस समय ग्वालियर की विशेषता थी । मानसिह तोमर के भाई या भतीजे भानुसिह ने थेघनाथ से गीता का अनुवाद कराया । वह थेघनाथ लिखता है —

---

* प्रभुदयाल मीतल अष्टछाप परिचय, पृष्ठ १२८ ।

† सूरसागर (का० ना० प्र० स०) पद क्रमाक ११ ।

कहै भानु मोहि भावै रामं। जातै ज्यो पावै विस्राम।
इहि ससार न कोऊ रह्यो। भानुकुवर थेधू सो कह्यो॥

—और फिर गीता का अनुवाद करने का आदेश दिया। यह रामकृष्ण की भक्ति का रूप चतुर्भुजदास की मधुमालती मे भी मिलता है। तात्पर्य यह कि सूरदास के इन पुष्टिपूर्व पदों मे राम और विष्णु के एक विशेष रूप मे दर्शन होते हैं।

परन्तु मुख्य बात दूसरी है। सूरदास के पदों का अन्तर्साक्ष्य यह कहता है कि वे पुष्टिमार्गी बनने के पूर्व किसी राजसभा के निकट सम्पर्क मे थे। वह राजसभा कुलीन पडितो से मडित थी, वहाँ कोई गढ़ भी था, और महाराज, ऋषिराज, राजमुनि आदि की परंपरा भी थी। सूरदास स्वय ब्राह्मण कुल के नहीं थे, उनके पास उनका सगीत था और थी प्रभुभक्ति। वे उसी के सहारे अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की चुनौती सी देते हैं। ये पूरे पद तो हम अन्त मे परिशिष्ट के रूप मे दे रहे हैं, यहाँ उनके आवश्यक अ श उद्धृत करते है। सूर ने एक स्थल पर लिखा है —

ग्वालियर और सूरदास

जापर दीनानथ ढरै*।
सोई कुलीन, बडौ सुन्दर सोई, जिहि पर कृपा करै।
कौन बिभीसन रक निसाचर, हरि ह सि छत्र धरै।
राजा कौन बडौ रावन तै गर्बहि गर्ब गरै।

यह गति मति जानै नहि कोऊ किहि रस रसिक ढरै।
सूरदास भगवत भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै।

प्रश्न यह है कि यह रस-रसिक, रावण से भी अपना बडा प्रताप समझने वाला कौन था और किसे कुलीनता का गर्व था जिसे यह उपदेश देने की आवश्यकता पडी? उत्तर की खोज आगे करेंगे, पहले सूर का एक पद और देख ले.—

* सूरसागर (का० ना० प्र० स०), पद क्रमाक ३५।

हरि के जन की अति ठकुराई* ।
महाराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई ।
निरभय देह राजगढ ताकौ, लोक मनन उतसाहु । आदि ।

ये कौन सी राजसभा और राजगढ़ है जिनको 'हरि के जन' सूर ने इस पद मे चुनौती दी है ? कहाँ पर महाराज, ऋषिराज, राजमुनि आदि का जमघट था, जिनके आगे सूरदास को केवल हरिभक्ति के सहारे अपना अहं जीवित रखने की स्थिति उत्पन्न हुई ?

सूर का एक पद और द्रष्टव्य है—

यह आसा पापनी दहै† ।
तजि सेवा वैकुंठनाथ की, नीच नरनि क सग रहे ।
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनकौ राजा राय कहै । आदि ।

यह सकेत निश्चय ही वल्लभ-सभा के लिए नही है । वे पुष्टिमार्गी बनने के पश्चात के सूरदास के लिए नीचनर नहीं थे, न राजा राय थे । श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा मे जाने के पश्चात सूरदास को किसी लम्बे समय तक किसी राजा राय के पास रहने का अवसर नहीं मिला, उस समय वे वैकुंठनाथ की नही, गोकुलनाथ की सेवा करते थे ।

सूर के इन पदो मे वर्णित परिस्थितियो का समाधान ग्वालियर के तोमर महाराज मानसिह की सभा मे मिलता है ।

मान की राज-सभा

ग्वालियर गढ़ पर परम-रसिक-शिरोमणि मानसिह की राजसभा जमती थी । मृगनयनी के रूपलावण्य के साथ-साथ उसे अपने दुर्दमनीय शौर्य का भी दंभ था । दिल्ली-सस्थापक अपने पूर्वजो का भी उसे गर्व था ।

थेघनाथ उसके लिए लिखता है —

पन्द्रह सै सत्तावन आनु । गढ गोपाचल उत्तम ठानु ॥
मानसाहि तिह दुर्ग नरिन्दु । जनु अमरावति सोहै इन्दु ॥

---

* सूरसागर (का० ना० प्र० स०) पद क्रमाक ४० ।

† वही, पद क्रमाक ५३ ।

नीत पुन्न सौ गुन आगरो। वसुधा राखन कौ अवतरौ ॥
जाहि होइ सारदा बुद्धि। कै ब्रह्मा जाकै हिय सुद्धि ॥
जीभ अनेक सेस ज्यौ करै। सो थुत मानस्यघ की करै ॥
ताकै राज धर्म की जीत। चले लोक कुल मारग नीति ॥
सबही राजनि मे अति भलै। तोवर सत्य सील त्या बलै ॥

उसी दरबार मे अवध के मानिक ने भी उसकी अभ्यर्थना की —

गढ ग्वालियर थानु अति भलै। मानसिह तोवरु जो बलै ॥

इन गढ़पति तोमर की राजसभा मे कुल और पाडित्य के मानी केशव के पूर्वज 'षट दर्शन अवतार' शिरोमणि मिश्र थे और मथुरा के प्रकाण्ड पडित कल्याणकर मिश्र भी थे। मानसिह के पिता कल्याणसिह राजर्षि* भी कहला चुके थे। इस पृष्ठभूमि मे सूरदास के ऊपर लिखे पदो को रख कर यदि देखा जाय, तब उनके रस-रसिक, महाराज, ऋषिराज, कुलीनता के दभी, राजगढ़ के अधिपति सभी एकत्रित दिखाई देगे। सूरदास की जन्म-भूमि दिल्ली के पास सीही मान कर तथा वयस्क होते ही उन्हें मथुरा-आगरा के बीच किसी काल्पनिक गोपाचल† का निवासी मानकर चले, तब ये पद अर्थहीन दिखाई देगे।

इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि ईसवी सन् १४७८ (सूर का जन्मवर्ष) तथा ईसवी सन् १५१० (शरणागति-वर्ष) के बीच सूरदास की सगीत-साधना कहाँ हो सकी होगी ? सूर का सगीत गभीर शास्त्रीय अध्ययन पर आधारित है। राणा कुम्भा की सगीतसभा उस समय तक उखड़ चुकी थी। दिल्ली, जौनपुर अथवा माडू के सुल्तानो के सगीत से सूरदास के सगीत का कोई सम्बन्ध नही है और उनके द्वारा इन दरबारो से सम्बन्धित होकर सगीतसाधना करना कल्पनातीत है।

सगीतसाधना की साक्षी

* "कल्याणमल्ल इति भूपमुनिर्यशस्वी" तथा "श्रीमल्लाडखान-विनोदाय श्रीमद्राजर्षि-महाकवि-कल्याणमल्ल-विरचितो अनगरग"—अनगरग।

† मु शीराम शर्मा सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृष्ठ १८-१९।

वृन्दावन के गौडीय वैष्णवों से सूरदास का कोई सम्बन्ध नही रहा। स्वामी हरिदास उस समय तक कही स्वय सगीत की साधना कर रहे थे, उनकी डागुर वाणी उस समय तक मुखरित नही हुई थी। दिल्ली के पास अथवा मथुरा-आगरा के बीच के क्षेत्र मे उस समय सिकन्दर लोदी की फौजे दौड़ मार रही थी। उस इलाके मे न कोई गढ़पति था, न महाराज, राजर्षि अथवा राजमुनि का दभ कर सकने वाला। तब सूर की सगीत-साधना पन्द्रहवी शताब्दी मे केवल ग्वालियर मे हो सकती थी।

मानसिह की सहिष्णुता

जहॉ तक सूर के इन राजसभा विषयक पदो का सम्बन्ध है, वे लोदियों को सहन नही हो सकते थे। हॉ, मानसिह तोमर उन्हे अवश्य सह सकता था। वह विद्वानों और सन्तो के अमर्ष को हॅस कर सह लेता था। इसका एक उदाहरण केशव के पूर्वज ही हैं। शिरोमणि और हरिनाथ मिश्र के विषय मे केशवदास ने लिखा है :--

भये शिरोमणि मिश्र तब, षट दर्शन अवतार।।*
मानसिंह सौ रोष करि जिन जीती दिसि चारि।
ग्राम बीस तिनको दये राना पाव पखारि।।
तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग कीन्हे हरि हरिनाथ।
तोमरपति तजि और सौ कबहु न ओड्यो हाथ।।

शिरोमणि मिश्र मानसिह से झगड़ बैठे, चले भी गये, परन्तु मानसिह ने उनसे कोई बदला न लिया। उसके पुत्र हरिनाथ को तोमर राज मे इतनी वृत्ति मिलती रही कि उन्हे कही और हाथ न फैलाना पडा। जब केशव ने वीरसिह बुन्देला से रोष किया था अथवा जब उन पर वीरसिहदेव बुन्देला ने कुछ समय के लिए रोष किया था, तब फल कुछ दूसरे प्रकार का ही हुआ था। केशव की वृत्ति भी गयी और ओड़छा भी छूटा। बहुत अनुनयविनय के पश्चात ही प्रतिष्ठा मिल सकी

---

* केशवदास . कविप्रिया, दूसरा प्रभाव।

थी। मानसिह तोमर का व्यवहार इस दिशा मे अधिक उदार था। शिरोमणि मिश्र मानसिह के मृगया, मृगनयनी और सगीतरस मे लीन रहने के कारण किवा किसी अन्य माथुर पडित के प्रभावशील हो जाने से रूठ गये थे ऐसा ज्ञात होता है। उस स्थिति मे उनकी उपेक्षा होती रही होगी। परन्तु मानसिह रुष्ट न हुआ। वह शिरोमणि के भी पीछे नही पड़ा, क्योकि जिस राणा ने उनके पॉव पखार कर बीस ग्राम दिये, वह भी या तो मानसिह के बाहुबल पर जीवित रहने वाला धौलपुर का राणा होगा, या तोमरो के हितैषी उदयपुर के राणा होगे। तात्पर्य यह कि सूरदास की इन कटूक्तियो का केन्द्र यही मानसिह और उसकी राजसभा थी। मानसिह बहुत समय तक इस गुणी भक्त का यह उद्धत रूप सहते रहे, परन्तु संभवत. सूरदास अधिक समय तक ग्वालियर मे टिक न सके और सन् १५१० के पूर्व ही ग्वालियर छोड गये। गोकुल, मथुरा और वृन्दावन उस काल के उदासीन भक्तो के लिए तीर्थ स्थान तो थे ही, अतएव वे वहॉ जा बसे और श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रधान शिष्य बने।

नाभादास ने भक्तमाल मे सूरदास के पद-साहित्य की प्रशसा की है, उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे वे मौन रहे है। परन्तु भक्तमाल पर अनेक विस्तृत टीकाएँ हुई हैं। उन सबके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है, विशेषत उन टीकाकारो की कृतियॉ देखने योग्य है

भक्तविनोद की साक्षी

जो पुष्टि मार्ग से प्रभावित नही थे। उनमे से एक टीकाकार* ने सूरदास को किसी यादव वशी का परम मित्र लिखा है। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि तोमर राजवंश यादववशी† था। इस उल्लेख से भी यही प्रकट होता है कि

---

* डा० ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा 'सूरदास' मे उद्धृत 'भक्तविनोद'।

† टाड एनाल्स एड एटीक्विटीज ऑफ राजस्थान, पृष्ठ ६३। केशवदास ने भी दिल्ली के तोमरो को 'सोमवश यदुकुल कलश' लिखा है।

सूरदास का तोमरों से सम्बन्ध था।

सूरदास की एक रचना साहित्यलहरी कही जाती है। उसमे एक पद है —

साहित्यलहरी का साक्ष्य

प्रथम ही प्रथु यज्ञते भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दयो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वस प्रसस मे भौ चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हो तिन्हे ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचन्द ता सुत सीलचन्द स्वरूप।
वीरचन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रथभौर हमीर भूपत सग खेलत जाय।
तासु वस अनूप भो हरिचन्द अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल मे रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट गम्भीर॥
कृष्णचन्द उदारचन्द जो रूपचन्द सुभाइ।
बुद्धिचन्द प्रकाश चौथे चन्द भे सुखदाइ॥
देवचन्द प्रबोध षष्टमचन्द्र ताको नाम।
भयो सप्तम नाम सूरजचन्द मन्द निकाम॥
सो समर कर साहि से सब गये विधि के लोक।
रहो सूरज चन्द दृग से हीन भर वर शोक॥
परो कूप पुकार काहू सुनी ना ससार।
सातवे दिन आई यदुपति कियो आप उधार॥
दिव्य चख दे कही शिशु सुन योग बर जो चाइ।
है कही प्रभु भगति चाहत शत्रुनाश स्वभाइ॥

दूसरो ना रूप देखे देख राधा श्याम ।
सुनत करुणासिन्धु भाषी एवमस्तु सुधाम ॥
प्रबल दच्छिन विप्रकुल ते शत्रु ह्व है नास ।
अषिल बुद्धि विचार विद्यामान मानै मास ॥
नाम राखै है सु सूरजदास, सूर, सुश्याम ।
भये अन्तरधान बीते पाछली निशि याम ॥
मोहि मनसा इहै ब्रज की बसी सुख चित थाप ।
श्री गुसाई करी मेरी आठ मध्ये छाप ॥
विप्र प्रश्न ते जगा को है भाव सूर निकाम ।
सूर है नन्द नन्द जू को लियो मोल गुलाम ॥

इस पद से यह स्पष्ट है कि सूरदास चन्दवरदाई के वशक्रम मे थे तथा वे ब्रह्मभट्ट थे। इस पद के अनुसार सूरदास के प्रपिता का नाम हरचन्द है। इन हरचन्द के पुत्र पहले आगरा मे रहे और फिर गोपाचल चले गये। उनके सात पुत्र हुए, जिनमे से छह शाह से युद्ध करके स्वर्ग चले गये और अकेले सूरदास बच रहे। इस पद की साक्षी से सूरदास का जन्म ग्वालियर मे हुआ था। सूरदास के जन्म के समय अर्थात ई० सन १४७७ मे उस समय ग्वालियर पर कीर्त्तिसिह तोमर का राज्य था। जिस शाह से युद्ध करते हुए सूरदास के छह बडे भाई मरे, वह युद्ध सूरदास के जन्म के १७-१८ वर्ष पश्चात हुआ होगा अर्थात उस समय हुआ होगा जबकि मानसिह तोमर के राज्य का प्रारम्भ हो गया था। मानसिह तोमर को अनेक शाहो से भीषण युद्ध करना पडे थे।

साहित्यलहरी का पद क्या वास्तव मे प्रक्षिप्त है ?

अनेक विद्वानों ने 'साहित्यलहरी' का ऊपर उद्धृत पद प्रक्षिप्त माना है और उसका प्रधान कारण यह बतलाया है कि सूरदास की जाति उसमे ब्रह्मभट्ट लिखी है, जब कि हरिरायजी ने उन्हे अपनी वार्त्ता मे सारस्वत ब्राह्मण कहा है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ०, ब्रजेश्वर बर्मा एवं डॉ० दीनदयाल गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त माना

है। दूसरी ओर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू राधाकृष्णदास तथा मुंशीराम आदि विद्वानों ने इसे सूररचित एवं प्रामाणिक माना है। यहाँ पर हम इस पद की प्रामाणिकता के विवाद में नहीं पडना चाहते, हम तो केवल यह कह सकते हैं कि इस बात को सिद्ध करने के लिए कि सूरदास ग्वालियर के थे, बहुत सी सामग्री है जो इस पद के उल्लेख को इतिहाससंमत प्रकट करती है। कुछ स्थापनाओं को स्वयं-सिद्ध मानकर उनकी कसौटी पर इस पद को अथवा समस्त साहित्य-लहरी को प्रक्षिप्त मान लेने के जो प्रयास किये गये हैं, वे वैज्ञानिक नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है*—'हमारा अनुमान है कि साहित्यलहरी में यह पद किसी भाट के द्वारा जोडा गया है। यह पंक्ति ही,

प्रबल दच्छिन विप्र कुल ते सत्रु ह्वै है नास।

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्र कुल' साफ पेशवाओं की ओर संकेत करता है। इसे खींचकर अध्यात्मपक्ष की ओर मोडने का प्रयत्न व्यर्थ है।" ऊपर हम पूरा पद उद्धृत कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल को इतना बड़ा भ्रम कैसे हो गया, यह बडे आश्चर्य की बात है। उन्हें कठिनाई ज्ञात हो रही थी सूरदास के, इस पद के आधार पर सारस्वत ब्राह्मण से ब्रह्म-भट्ट बन जाने में, परन्तु वह खीज उतरी 'दच्छिन बिप्र कुल' पर।

प्रबल दच्छिन बिप्रकुल

यहाँ दक्षिण के प्रबल विप्र कुल से पेशवाओं की ओर संकेत कदापि नहीं है, वह है गोदावरीतट से पधारने वाले वल्लभाचार्य की ओर। शत्रु भी मुगल नहीं हैं, शत्रु हैं वे मानसिक विकार जो महाप्रभु के स्पर्श मात्र से नष्ट हो गये थे और जिनके लिए यह वरदान माँगा गया है "है कही प्रभु भगति चाहत शत्रु नास सुभाइ"। कृष्ण भगवान ने 'एवमस्तु' कहा और वरदान दिया "प्रबल दच्छिन विप्र कुल ते शत्रु ह्वै है नास"।

---

* रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८१।

† मुंशीराम शर्मा सूर-सौरभ, पृष्ठ १८-१९।

इस घटना के पश्चात ही सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य बने, यह इस पद मे है। यहॉ पेशवाओ को स्थान नही है। इसी प्रकार की पूर्व निश्चित धारणाएँ इस पद को प्रक्षिप्त बनाती रही है। यहॉ हमने केवल एक बानगी दे दी है।

और यह नया गोपाचल ?

सूर-साहित्य के महामर्मज्ञ श्री मुशीराम ने इस पद को तो सूरकृत माना है, परन्तु इसमे "गोपाचल" का जो उल्लेख आया है, उसे चौरासी वैष्णवन की वार्ता के गऊघाट से अभिन्न माना है। मतलब यह कि पहले तो वार्त्ता को ब्रह्मवाक्य माना जाय, तब गोपाचल की खोज की जाय ! इस प्रकार की भावना से इतिहास तो नही मिल सकता। इतिहास-विश्रुत गोपाचल तो दूसरा ही है। गऊघाट और गोपाचल का नामसाम्य भी नही है, फिर गऊघाट कैसे गोपाचल हो गया ? ब्रज के चौरासी कोस के बाहर भी एक दुनियॉ है, परन्तु उसे देखे कौन ?

आइन-ए-अकबरी के रामदास और सूरदास

साहित्यलहरी के इस पद मे सूरदास के पिता का नाम नहीं दिया गया है। कुछ विद्वान सूरदास के पिता का नाम रामदास बतलाते है और उसकी अभिन्नता उस रामदास गवैये से प्रकट करते है, जिसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी मे हैं तथा जिसके साथ उसके पुत्र सूरदास का भी मुगल दरबार मे जाने का उल्लेख किया गया है। मुगल दरबार के ये रामदास और सूरदास ग्वालियर के हो सकते हैं, परन्तु सूरसागर के रचयिता से उनका कोई सम्वन्ध नही हो सकता।

थेघनाथ के गुरु रामदास

तोमरों के समय मे एक अत्यन्त प्रसिद्ध रामदास थे अवश्य, जो गीता-अनुवादक थेघनाथ के गुरु थे, जिनकी वदना थेघनाथ ने अपने गीता के अनुवाद मे की है —

सारद कहुँ बदौं करि जोर। पुनि सिमरो तैतीस करोर॥
रामदास गुरु ध्याऊँ पाइ। जा प्रसाद यह कवितु सिराइ॥

हमारे पास यह प्रकट करने का कोई प्रमाण नहीं है कि ये रामदास

सूरदास के पिता भी थे। परन्तु यह निश्चित है कि ई० सन् १५०० मे जब थेघनाथ ने यह अनुवाद किया, ये रामदास ग्वालियर मे बहुत प्रतिष्ठित एव मान्य थे। वे संत भी थे और सगीतज्ञ भी। वृन्दावन के हरिदास किसी रामदास के शिष्य कहे जाते है। सम्भव है वे यही रामदास हों।

सूर-साहित्य के अन्तर्साक्ष्य से यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सूरदास ब्राह्मण नही थे, अन्यथा वे यह न लिखते —

जन की और कौन पति राखौ
जाति-पाँति कुल कानि न मानत वेद पुराननि साखौ*।

उस काल मे किसी वैष्णव ब्राह्मण ने इस प्रकार नहीं लिखा। जो ब्राह्मण जैन अथवा नाथपथी हो गये थे, उनके द्वारा ऐसे कथन अवश्य हुए है। पर सूर दोनों ही नहीं थे। लेकिन हम देखते हैं कि श्री हरिराय जी ने अपनी वार्त्ता मे यह स्पष्ट लिख दिया है —

"सो सूरदास जी दिल्ली पाए चार कोस उरे मे सीही गांम है, जहां राजा परीक्षत के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियौ है, सो ता गांम मे एक सारस्वत ब्राह्मण के यहां प्रगटे। सो सूरदास जी के जन्मत ही सों नेत्र नाही हैं, और नेत्रन कौ आकार गढेला कछू नाही, ऊपर भौह मात्र हैं। सो या भाँति सो सूरदास जी कौ स्वरूप है।"

हरिराय जी के इस कथन मे न तो यह सत्य है कि सूरदास जन्मान्ध थे और न यह कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका यह कथन भी प्रमाण-रूप मान लेने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता कि सूरदास का जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम मे हुआ था। हम यहाँ वार्त्ता-साहित्य के समस्त कथनों की प्रामाणिकता के विचार मे नही पडना चाहते, केवल यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि वार्त्ताकारो की दृष्टि अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की ओर अधिक रही है और इस हेतु

* सूरसागर (का० ना० प्र० स०) पद क्रमांक १५।

उनके द्वारा अनेक अनर्गल कथन भी किये गये है। तुलसीदास के विषय मे जहाँ-जहाँ वार्त्ताओ मे उल्लेख किया गया है, वह कितना भ्रामक है, इसके लिए हम श्री चन्द्रबली पांडे के उस विवेचन की ओर ध्यान आकर्पित करना चाहेगे जो उनके द्वारा "तुलसी की जीवनभूमि" मे किया गया है और जिसमे श्री पाडेजी ने लिखा है* "जी, इसी तुलसी को नीचा दिखाने के लिए वार्त्ता खड़ी हुई है। उसके नन्ददास काव्य के नन्ददास नही कहे जा सकते। सच तो यह है कि 'वार्त्ता' को न तो तुलसी की मान-मर्यादा का ध्यान है और न 'नन्ददास' की प्रतिष्ठा की चिन्ता। उसे तो ले दे के बस 'पुष्टि' को पुष्ट करना और 'श्री गुसाई जी' को आसमान पर चढ़ाना है।"

सूरदास की जन्मभूमि सीही मे बतलाने मे अथवा उन्हें सारस्वत ब्राह्मण या जन्मान्ध बतलाने मे हरिरायजी का साम्प्रदायिक उद्देश्य बहुत अधिक तो नही था, परन्तु था अवश्य। समस्त वार्त्ता साहित्य में

वार्त्ता का साम्प्रदायिक ध्येय

ग्वालियर का नाम विशेष रूप से परित्यक्त समझा गया है, यद्यपि श्रीनाथजी के श्री चरणों का ग्वालियर का सगीत और पद-साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ शृगार और आकर्षण का कारण बना था तथा आधे दर्जन से अधिक उस काल के सर्वश्रेष्ठ कृष्णलीला-गायक ग्वालियर के आसपास के ही थे और स्वय महाप्रभु डडोतियाधार मे पधार कर रामसिह तोमर से मिले थे, परन्तु उसे महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित आडम्बर-पूर्ण भक्ति के लिए अवकाश नहीं था। ग्वालियर के विषय मे धारण किये गये इस मौन का यह भी एक प्रबल कारण था। जिन मुगलों की छत्रछाया मे पुष्टि मार्ग पला था, उस मुगल साम्राज्य के भारत के सस्थापक बाबर के विरुद्ध विक्रमादित्य तोमर पानीपत मे लड़ा था और हुमायूँ ने उसके परिवार की रत्नराशि छीनकर प्रसिद्ध कोहनूर हीरा

* चन्द्रबली पाडे तुलसी की जीवनभूमि, पृष्ठ ५०।

प्राप्त किया था तथा उसका पुत्र रामसिंह तोमर पहले तो मुगलों से ग्वालियर छीनने का प्रयास करता रहा और विफल प्रयास होने पर मेवाड़ के राणा उदयसिंह की सेवा मे चला गया तथा उन्हे तुर्कों से लड़ने के लिए भडकाता रहा और अन्त मे सन् १५७६ ई० मे महाराणा प्रतापसिंह की ओर से मुगलों से लडता हुआ अपने दो पुत्र भवानीसिंह और प्रतापसिंह के साथ हल्दीघाटी के रणस्थल मे खेत रहा*। एक और कारण जिससे पुष्टिमार्गी महाप्रभु ग्वालियर के तोमरों से रुष्ट थे, वह था नरबर के कछवाहो से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध और कछवाहों और तोमरों का वशानुगत वैमनस्य। हम यहाँ इस इतिहास को विस्तार से नही लिखना चाहते, केवल यही सकेत कर देना चाहते हैं कि सन् १५०८ मे तोमरों के विरुद्ध सिकन्दर लोदी को नरवर पर कछवाहों ने ही निमत्रित किया था। भयकर युद्ध के पश्चात नरवरगढ टूटा, लोदियों ने वहाँ के मन्दिर ध्वस्त किये तथा विजन बोल दिया। इसके बाद नरवर और सीपरी (शिवपुरी) पर कछवाहे जम गये। जब लुटे-पिटे तोमर मुगलों से लडाई लड रहे थे, तब नरवर और राजस्थान के कछवाहे मुगलों से किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे यह भी इतिहास प्रसिद्ध है। मुगलों के जागीर भोगी ये पुष्टिमार्गी सत उस अपराध को भूल न सके, तथा सूरदास का जन्मस्थान सही रूप मे दक्षिण दिशा मे लिखने के स्थान पर उत्तर की ओर ले गये। सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखने मे भी इसी प्रकार की वृत्ति कार्य कर रही थी। श्री वल्लभाचार्य के श्रेष्ठतम अनुयायी को श्री हरिरायजी महाराज घटिया जाति का लिखने मे सकोच करते थे, अतएव वे ब्रह्मभट्ट से सारस्वत ब्राह्मण बना दिये गये। सूरदास को जन्मान्ध न लिखने मे भी श्री हरिरायजी ने गोस्वामी वल्लभाचार्य की महिमा घटती देखी। उनके मत से यह महाप्रभु का प्रसाद था कि जन्मान्ध सूरदास भी रूप, रंग और प्रकृति-छटा का इतना विशद वर्णन

---

* गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ २६७।

कर सके, जितना कोई दृष्टि रखने वाला भी नही कर सकता। तात्पर्य यह है कि सूरदास की जीवन-सम्बन्धी वार्त्ता के ये उल्लेख निरपेक्ष भाव से नही किये गये है।

सूरदास के पार्थिव शरीर का सम्बन्ध ग्वालियर से था, यह तो प्रकट होता ही है, पिछले विवेचन के आधार पर हम एक बात निर्विवाद रूप से कह सकते है कि सूर के सगीत का मूल ग्वालियर मे था, उन्हें मानसिह के संरक्षण मे पोषित पद-साहित्य की विशाल पृष्ठभूमि प्राप्त थी और उसी का एक रूप उनका पद-साहित्य है। पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होने के पूर्व सूर की भक्ति का रूप भी वही है, जो विष्णुदास, बैजू, थेघनाथ, नाभादास, चतुर्भुजदास आदि की रचनाओं मे मिलता है। सूर की भाषा भी वही ग्वालियरी है जो आगे चलकर ब्रजभाषा की छाप लेकर चली अथवा राजनीति और साम्प्रदायिक खीचतान मे, श्री चन्द्रबली पांडे के शब्दों मे "ग्वालियरी हारी और ब्रजभाषा जीती*" अर्थात ग्वालियरी भाषा नाम भुला दिया गया, ब्रजभाषा नाम चलाया गया। इस दृष्टि से देखने से जैसा आचार्य शुक्ल ने लिखा है, सूर-साहित्य किसी भी धारा की सब से प्रथम कृति नही है, न उसके रूप को देखकर किसी उलझन की आवश्यकता है। उलझन तभी उत्पन्न होती है जब ब्रजभाषा को मूल मानकर बुन्देलखड की भाषा को उसकी उपबोली बनाया जाता है तथा ब्रजभाषा का निरूपण करने वाले ग्रन्थों मे से इस प्रदेश को बहिष्कृत किया जाता है†।

सूर के सगीत, साहित्य और भाषा का मूल

---

* चन्द्रबली पाडे केशवदास, पृष्ठ २९२।

† डॉ० धीरेन्द्र वर्मा . ब्रजभाषा, मानचित्र।

वल्लभकुल और बुन्देलखंड

सूरदास के सगीत और साहित्य की पृष्ठभूमि पर हमने विचार कर लिया और उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध मे भी हमने अपने विचार प्रस्तुत कर दिये। सोलहवी शताब्दी के इस महाकवि की पद-रचना और भाषा-परम्परा के मूल पर उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पुष्टिमार्गी साहित्य के प्रधान स्तभ सूरदास ही है। उनके पश्चात पुष्टिमार्ग का जो कुछ साहित्य बचता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण नही है। परन्तु सगीत मे सूरदास से भी अधिक कौशल प्राप्त कुछ व्यक्ति वल्लभ-सभा मे थे। आज बुन्देलखड कहलाने वाले भूभाग ने (जिसमे ग्वालियर भी सम्मिलित है) सूरदास के अतिरिक्त कुछ ऐसे पद-रचनाकार एव सगीतकार पुष्टिमार्ग को दिये थे जिनके कारण उनके सम्प्रदाय का आकर्षण बहुत अधिक बढ गया था।

अन्य पुष्टिमार्गी गायक

सूर के पश्चात अष्टछाप मे सगीत की निपुणता मे जिनका स्थान था, वे आतरी के गोविन्दस्वामी है। वैसे तो इतिहास-प्रसिद्ध आंतरी ग्वालियर के पास है, परन्तु कुछ विद्वानो ने कोई एक आतरी भी अन्यत्र खोज निकाली है। सूरदास, अष्टछाप एव ब्रजभाषा पर अनेक ग्रन्थ लिखने वाले श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है* "वार्त्ता से ज्ञात होता है कि गोविन्द स्वामी की लडकी उनसे मिलकर अकेली आंतरी ग्राम को वापिस चली गयी थी। इससे यह ग्राम ब्रज के निकट ही होना चाहिए, सुदूर दक्षिण और ग्वालियर रियासत मे इसका स्थित होना संभव नहीं है। फिर गोविन्द स्वामी के काव्य मे शुद्ध ब्रजभाषा के अतिरिक्त दक्षिणी

गोविन्द स्वामी

---

* प्रभुदयाल मीतल. अष्टछाप परिचय, पृष्ठ २४१।

अथवा अन्य किसी स्थान की भाषा के शब्द भी नही मिलते हैं, अतः इनके जन्म और प्रारंभिक जीवन का सम्बन्ध ब्रज के निकटवर्त्ती भरतपुर राज्यातर्गत आतरी ग्राम से होना ही सिद्ध होता है।"

इस 'शुद्ध ब्रजभाषा' की बात तो बहुत हो चुकी, यहाँ हम उस प्रसग पर विचार करले, जिसमे उक्त विद्वान लेखक के मतानुसार गोविन्द स्वामी की लडकी को ब्रज से आंतरी तक का मार्ग अकेले तय करना पडा। सम्बन्धित वार्त्ता को हमने भी देखा और उसमे कही भी हमे यह ध्वनि निकलती दिखाई नही दी कि आंतरी से उनकी लड़की श्रीनाथ जी के मदिर तक अकेली आई अथवा अकेली लौट कर गयी। वार्त्ता मे केवल यह लिखा है "एक दिन गोविन्ददास की बेटी देस मे सो आई परतु गोविन्द स्वामी कोई दिन वा बेटी सू बोले नही" तथा "तब वे सब कपडा पाछे पठाय दिये बेटी अपने घरको गई सो वे गोविन्द स्वामी गुरू की ऋश सो ऐसे डरपत हते*।" इससे न तो यह ज्ञात होता है कि यह लडकी पैदल आई या गाडी पर बैठकर आई या अकेली आई या तीर्थयात्रियो की जमात के साथ आई और गयी। यह कल्पना तो ब्रज के आसपास ही सब-कुछ एकत्रित कर देने के प्रयास की ओर ही इंगित करती है, न कि सत्यान्वेषण की ओर। जब इतना बड़ा गोपाचल आगरा-मथुरा के बीच पैदा हो गया, तब इस आतरी को भरतपुर के पास तक भी क्यों जाने दिया, यही आश्चर्य है—कुछ न कुछ मथुरा-गोकुल के आसपास खोजने से मिल ही सकता था। परन्तु यदि सत्य का पता लगाना हो तब एक बार इस ग्वालियर के पास की आंतरी के ध्वसावशेष भी देख लीजिए, मुगल इतिहास मे उसकी चर्चा पढ लीजिए और किसी जानकार से उसकी साहित्यिक परपरा जान लीजिए और तब अनुमान लगा लीजिए कि हिन्दी भाषा और

---

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (गगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई का सस्करण) पृष्ठ ९।

साहित्य के इतिहासों के लेखक अपनी व्यक्तिगत धारणाओं के आधार पर क्या-क्या नवीन उद्भावनाएँ खडी करने मे समर्थ हुए है।

इसी वार्त्ता मे गोविन्द स्वामी के सगीत के विषय मे ऐसा उल्लेख मिलता है जो उन्हे ग्वालियर से सम्बद्ध कर देता है। जब तानसेन गुसाईं जी के पास आए, उस समय उनका गायन भी हुआ। श्री गुसाईं जी ने तानसेन के गान को सुनकर उन्हे दस हजार रुपये और एक कौडी इनाम मे दी। दस हजार रुपये इस कारण दिये गये कि वे पृथ्वीपति मुगल सम्राट की राजसभा के प्रधान गायक थे और एक कौड़ी इसलिए कि उनके गायन की कीमत श्री गुसाईं जी महाराज की दृष्टि मे एक कौड़ी ही थी। तानसेन के गान को मात देने के लिए श्री गुसाईं जी ने इन्ही गोविन्द स्वामी को बुलाया था। इस प्रसग के सम्बन्ध मे वार्ता मे लिखा है "तब गोविन्द स्वामी ने एक सारग राग मे गायो सो पद 'श्री वल्लभ नदन रूप अनूप स्वरूप कह्यो नहि जाई।' सो ये पद सुनकर तानसेन चकित होय गये और गोविन्द स्वामी को गान सुनके विचार कर्यो जो मेरो गान इनके आगे ऐसे है जैसे मखमल के आगे टाट है ऐसे है सो ये कौड़ी की इनाम खरी। तब गोविन्द स्वामी सू तानसेन ने कही जो बाबा साहेब मो कु गान सिखावो तब गोविन्द स्वामी ने कही हम तो अन्य मार्गीय सु भाषण हुं नही करे तब तानसेन श्री गुसाई जी के सेवक भये और पचीस हजार रुपैया भेट करे और गोविन्द स्वामी के पास गायन विद्या सीखे और श्रीनाथ जी के पास कीर्तन गायवे लगे*।" इससे एक बात तो यह प्रकट है कि तानसेन को पुष्टिमार्ग की धर्म-भावना ने आकर्षित नही किया था, वरन उन्हे सगीत-साधना की उत्कट इच्छा ने आकर्षित किया था और दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि गोविन्द स्वामी सगीत शास्त्र

(हाशिया: तानसेन और गोविन्द स्वामी)

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, पृष्ठ ४७६।

के बहुत बडे मर्मज्ञ थे। यह सगीत ग्वालियर से दक्षिण की ओर १४-१५ मील पर स्थित आतरी मे ही प्राप्त किया जा सकता था, ब्रज के पास की किसी आतरी मे नही। इसके लिए श्री मीतल के दो कथन ही यदि साथ-साथ रखकर पढ लिये जावे तब कोई शका या सन्देह नहीं रह जायगा। "अष्टछाप के समय मे प्राचीन भारतीय संगीत के विकसित रूप ध्रुपद शैली की गायन-पद्धति का विशेष प्रचार था*।" तथा "ग्वालियर के तोमर नरेश स्वय सगीत शास्त्र के उन्नायक और ज्ञाता थे। उन्होने ध्रुपद की प्राचीन गायन-पद्धति के प्रचार की बड़ी चेष्टा की थी†।" ध्रुपद और तोमरो का क्या सम्बन्ध है यह हम पहले लिख चुके है, उन्होने ध्रुपद गायकी का प्रचार ही नही, प्रारभ भी किया था। यहाँ यह जान लेना पर्याप्त है कि वल्लभसभा मे इसी ध्रुपद गायकी का राज्य था जो खालिस ग्वालियर की देन है और भावभट्ट के शब्दों मे मध्यदेशीय भाषा और साहित्य मे राजित है‡।

गोविन्द स्वामी की भाषा

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, गोविन्द स्वामी की भाषा मे दक्षिण का प्रभाव तो नही हो सकता, लेकिन वह ग्वालियर की भाषा नही है यह नही कहा जा सकता और श्री मीतल ने कृपा कर यह स्पष्ट रूप से कहा भी नही है। अतएव यह मान लेने मे कि गोविन्द स्वामी ग्वालियर का सगीत और उसके पद-साहित्य की परपरा लेकर ही गोकुल पहुँचे थे, हम सत्य के निकट ही पहुँचेगे।

मध्यकाल मे किसी भी कला का रहस्य जान लेना सरल नहीं था। मुमुक्षु शिक्षार्थी को उसे प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ दे देना पड़ता था। तानसेन ने गोविन्द स्वामी से ग्वालियरी संगीत प्राप्त करने

---

* प्रभुदयाल मीतल अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ३५६।

† वही, पृष्ठ ३५७।

‡ पीछे पृष्ठ ७७ देखिए।

के लिए वल्लभमत ग्रहण किया था, यह ऊपर के प्रसग से स्पष्ट है। इस ग्वालियरी सगीत ने वल्लभसभा को एक और शक्तिशाली अनुयायी दिया था, यह नरवर के कछ-वाहा आसकरण की वार्त्ता से प्रकट होता है। वार्त्ता मे लिखा है कि एक बार तानसेन आसकरण के पास नरवर गये और उन्हें वह विष्णुपद सुनाया जो उन्होंने गोविन्द स्वामी से सीखा था। आसकरण उससे बहुत मुग्ध हुए और उन पदो को सीखना चाहा, परन्तु तानसेन ने मना कर दिया और कहा कि जब तक श्री गुसाईं जी की शरण मे कोई नही पहुँचता, तब तक उसे यह सगीत नहीं सिखाया जा सकता। आसकरण को भी तब यह कहना पड़ा कि "मै हूँ श्री गुसाईं को सेवक होऊगो*।" तात्पर्य यह कि ग्वालियरी सगीत के अनेक रस-भ्रमर उसके आकर्षण के कारण ही वल्लभ-सभा मे शरणागत हुए थे। नरवर के आसकरण कछवाहे ने भी अनेक पदो की रचना की है। उनमे ग्वालियर-नरवर की भाषा ही बोली है। उनका एक पद है :—

आसकरन कछवाहा

मोहन देखि सिराने नैना।
रजनीमुख आवत गायन सग मधुर बजावत बैना॥
ग्वाल मडली मध्य विराजत सुन्दरता को ऐना।
आसकरण प्रभु मोहन नागर वारौ कोटिक मैना॥

हम नही समझ सकते, इस पद मे ऐसा कौनसा प्रयोग है जो सोलहवी शताब्दी की बात छोड़ दीजिए, आज बीसवी शताब्दी मे भी बुन्देलखण्ड, नरवर, दिनारा, करहरा, ग्वालियर, चिरगॉव, दतिया, ओडछा मे प्रचलित भाषा मे प्रयुक्त नहीं होता। जिन्हे शका हो वे कार्तिक स्नान के दिनो मे किसी बुन्देलखण्डी ग्राम मे तालाब, नदी या पनघट के किनारे उष काल की पावन वेला मे बुन्देल-ललनाओ की मधुर स्वरलहरी मे आज भी सुन सकेंगे —

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, पृष्ठ १६३।

सखि मै भइ न बिरज की मोर ।
उडि उडि पख गिरै धरती पै बीनत नदकिसोर ॥

तात्पर्य यह कि आसकरण गोस्वामी जी के धार्मिक सिद्धान्तो के कारण नही, ग्वालियरी सगीत के कारण आकर्षित हुए थे और आकर्षित हुए थे मुगलों की कृपा बनाये रखने के लिए, जिसका एक सरल साधन उस समय पुष्टिमार्ग था ।

हम पहले लिख चुके है कि यद्यपि तानसेन ग्वालियर के थे, और वे अकबरी दरबार के सर्वश्रेष्ठ गायक थे, फिर भी वे ध्रुपद गायकी मे उतने पारगत न थे, जितने ग्वालियर के मानसिह-कालीन सगीतज्ञ थे ।

तानसेम और ध्रुपद

हम इस विषय मे फकीरुल्ला की साक्षी भी उद्धृत कर चुके हैं* । वार्त्ता-साहित्य से भी इसकी पुष्टि होती है । ग्वालियरी सगीत के मर्मज्ञ गोविन्द स्वामी से तानसेन को यही सगीत सीखना था और इसके लिए उन्होंने भी कण्ठीमाला धारण करली । मुहम्मद गौस से जिस सगीत को सीखने के लिए त्रिलोचन पाडे से वे तानसेन बनने मे न हिचके, उसका परिमार्जन और परिष्कार करने के लिए उन्हें दो सौ बावन वैष्णवो मे सम्मिलित होने मे क्या झिझक हो सकती थी ?

वार्त्ता मे (दो सौ वैष्णवन की वार्त्ता, क्रमांक २४६) बुन्देलखंड के महाराज मधुकरशाह को भी श्री गुसॉई जी महाराज का कृपा-पात्र कहा

मधुकरशाह बुन्देला

गया है । मधुकरशाह नृसिह के भक्त थे । मुगल सम्राट अकबर ने उन्हे वशवर्त्ती करने का पूर्ण प्रयास किया । वे उसके दरबार मे गये भी । परन्तु उनके रामानन्दी तिलक के कारण अकबर उनसे रुष्ट हो गया । इस घटना का वर्णन किसी कवि ने किया है —

हुकुम दियो है बादशाह ने महीपन को,
राजा, राव, राना, सो प्रमानु लेखियतु है ।

---

* पीछे पृष्ठ ७५ देखिए ।

चन्दन चढायौ कहूँ देवपद बन्दन को,
  दंहौ सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है।
सूनो कर गये भाल, छोर छोर कण्ठमाल,
  दूसरो दिनेम और कौन देखियतु है।
सोहत टिकैत मधुसाह अनियारे इमि,
  नागन के बीच मनियारे पेखियतु है।

स्पष्ट है कि जब मधुकरशाह दिल्ली दरबार मे गये, तब वे श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ के शरणागत नही हुए थे। क्योकि जब अकबर ने उनसे सिह की शिकार पर चलने के लिए कहा, तब नृसिह के उपासक होने के कारण उन्होने मना कर दिया। बात बिगड़ गयी और मधुकरशाह ओडछा चले आये। न्यामतवुली खॉ, अलीकुली खॉ, जामकुली खॉ आदि अनेक खान बुन्देलखड पर टूट पडे और अपने मुँह की खाकर लौटे भो। सन १५७७ ई० मे मुहम्मद सादिक खॉ के आक्रमण के साथ गुसाई जी के परम-सेवक नरवर के आसकरण कछवाहा* भी थे। इस युद्ध मे मधुकरशाह के एक राजकुमार होरलदेव वीरगति को प्राप्त हुए और दूसरे राजकुमार रामसिह घायल हो गये। मधुकरशाह को मुगलो से सन्धि करनी पडी। इस विद्रोही बुन्देले को सदा के लिए अपने मोहन मत्र से वश मे करने के लिए ही सभवत इसी समय श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ ओडछा गये और वार्त्ताकार ने लिखा "सो वह मधुकरशाह ओडछा को राजा हतो सो श्री गुसाई जी महाराज एक समय ओडछा

* श्री गोरेलाल तिवारी ने अपनी पुस्तक "बुन्देलखड के सक्षिप्त इतिहास" मे इन्हे भ्रमवश ग्वालियर का तोमर लिख दिया है। तोमरो मे तो रामसिह और उनके तीन पुत्र शालिवाहन, भवानीसिह और प्रतापसिंह बचे थे, इनमे से भी रामसिह अपने दो पुत्र भवानीसिह और प्रतापसिह सहित सन् १५७६ ई० मे हल्दीघाटी के युद्ध मे महाराणा प्रताप की ओर से मुगलो से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त कर चुके थे।

पधारे हते सो वह राजा सेवक भयो और श्री ठाकुर जी महाराज की सेवा करन लगे।"

यह समय सन् १५७७ और १५६१ के बीच का हो सकता है। मधुकरशाह कृष्णभक्त तो हो गये, पहले से ही थे, परन्तु वे विट्ठलनाथ जी अथवा गोकुल-वृन्दावन का यश न गा सके। उन्होंने लिखा —

ओडछो बृन्दावन सौ गाँव।
गोवरधन सुख-सील पहरिया जहाँ चरत तृन गाय।
जिनकी पदरज उडत सीस पर मुक्त मुक्त हो जायँ॥
सप्तधार मिल बहत बैत्रवे जमना जल उनमान।
नारी नर सब होत पवित्र कर-कर के स्नान॥
सो थल तुगारण्य बखानौ ब्रह्मा वेदन गायौ।
सो थल दियो नृपति मधुकर कौ श्री स्वामी हरदास बतायौ॥

उनके स्वामी हरिदास तथा हरिराम व्यास की व्यवस्था तो यही थी कि तुंगारण्य ही उनका वृन्दावन है। श्री गुसाई जी का रग उन पर न जम सका। परिणाम जो होना था वही हुआ। सन् १५६१ मे मुराद ने मधुकर शाह की स्वतत्रता समाप्त करदी और वे अगले वर्ष स्वर्गवासी हुए। जिस बुन्देला राजा की रानी गणेशकुँवरि अयोध्या से रामराजा की मूर्ति लाकर ओडछे मे उसकी स्थापना करे और जो श्री गुसाई जी का साम्प्रदायिक एव तदनुगामी राजनीतिक उपदेश न माने, उसे यह दण्ड मिलना ही चाहिए था। वार्त्ता मे कुछ भी लिखा हो, मधुकरशाह कभी पुष्टिमार्गी नही बने यह निश्चित है, हॉ श्री गुसाईं जी ने प्रयास पूरा किया।

वल्लभ-सम्प्रदाय और ग्वालियर

श्री महाप्रभु और श्री गुसाई जी के इन सम्पर्कों को देखते हुए उनका बुन्देलखड और ग्वालियर से, उसके सगीत तथा साहित्य से निकट सम्पर्क स्पष्ट है। आसकरण कछवाहा, गोविन्द स्वामी, कान्हबाई, तानसेन आदि ने ग्वालियरी भाषा और सगीत को उनकी धर्म-सभा मे

पहुँचाया । यह अवश्य है कि उनकी राजनीति मे बुन्देलखड ने साथ नही दिया, ग्वालियर ने तो विल्कुल नही। अतएव उनके द्वारा एक नयी सृष्टि की गयी, वार्त्ता-साहित्य मे भी और भाषा के क्षेत्र मे भी। वार्त्ता-साहित्य से ग्वालियर का नाम उड़ा और भाषा के क्षेत्र से ग्वालियरी का। यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वीपति अकबर और उसके दरबारियों का लगाव वल्लभकुल के उपदेशो से उतना नहीं था जितना उनकी धर्म-सभा को ग्वालियर से प्राप्त हुए सगीत तथा पद-साहित्य से और उसकी आडम्बर-पूर्ण माधुर्य-भक्ति मे प्राप्त मनोविनोद के साधनो से। वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुयायी होने का अर्थ उस समय मुगल साम्राज्य की सत्ता को तन और मन से स्वीकार करना हो गया था। इस राजनीतिक कारण से भी मुगल दरबार उन पर कृपावन्त था। इस प्रसग पर हम कुछ और प्रकाश आगे डालेंगे। जहाँ तक भाषा और साहित्य के विकास को समझने का प्रश्न है, पुष्टिमार्ग और बुन्देलखड के आपसी सम्बन्धो के विषय मे ऊपर लिखी जानकारी ही पर्याप्त है।

'ग्वालियरी' नाम का विलोपन

मध्यदेश मे हिन्दी का ईसवी ग्यारहवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी के मध्य तक महोबा, दिल्ली, मेवाड और ग्वालियर मे पोपण होकर पूर्ण विकसित काव्यभापा के रूप मे निर्माण हुआ। उसके देशी भाषा, भाषा आदि स्थाननिरपेक्ष नामो के अतिरिक्त ग्वालियरी भापा नाम कैसे पड़ गया और फिर क्योकर वह नाम ब्रजभाषा नाम मे परिवर्तित कर दिया गया यह सोचने और गम्भीरता से समझने का विपय है। जैसा हम पहले अनेक स्थलो पर लिख चुके है, भाषा के रूप से इस नाम-परिवर्त्तन से कोई सम्बन्ध नही है। इसके पीछे दो प्रबल विचारधाराओ का द्वद्व छिपा है। इतिहास तो यह कहता है कि ब्रजभाषा नाम का प्रारम्भ मुगलो की उस सास्कृतिक विजय के प्रयास का परिणाम है जिसके लिए आधुनिक महाकवि निराला ने अपनी ओजपूर्ण एव मर्मस्पर्शी वाणी मे लिखा है* —

ग्वालियरी नाम के विलोपन की मूल भावना

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सास्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मडल,

तथा—

यो मोगल-पद-तल प्रथम तूर्ण
सम्बद्ध देश-बल चूर्ण-चूर्ण,
इसलाम-कलाओ से प्रपूर्ण जन-जनपद,

---

* सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तुलसीदास, पृष्ठ १ तथा ६।

सचित जीवन की, क्षिप्रधार
इसलाम सागराभिमुखऽपार
बहती नदियाँ, नद, जन-जन हार वशवद।

मध्यदेश की भाषा का ग्वालियरी नाम उन परम्पराओ को अपने साथ लिये हुए था जिनकी रक्षा के लिए मेवाड़ के राणा, ग्वालियर के तोमर और गढकुडार तथा ओडछे के बुन्देले लडते रहे, जिनके लिए काशी और कन्नौज के गहरवार, दिल्ली के चौहान, मालवे के परमार तथा ऐसे ही अनेक राजवश समाप्त हुए थे। यह नाम उस परम्परा का है जिसकी रक्षा केशवदास करना चाहते थे और लोक लीक की स्थापना करने वाले राम-रूप का स्मरण करने लगे थे। इसकी रक्षा के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने अनेक यातनाएँ भोगी और अपनी मत्रपूत वाणी द्वारा राम के लोककल्याणकारी रूप के रक्षा-कवच का निर्माण किया। उन्ही परम्पराओ की रक्षा का प्रयास समर्थ रामदास की वाणी द्वारा किया गया था और जब तक मराठे इस महान मत्रद्रष्टा के निर्देशित मार्ग पर चले, तब तक उनके द्वारा भी हुआ। हमारा यह निवेदन भावावेश का परिणाम नही, इतिहास की सर्वविदित ठोस घटनाओ पर आधारित है।

ग्वालियरी नाम की भावना

मुसलमान भारत मे आए, उनकी सैनिक विजय भी हुई, परन्तु मुगलो के पूर्व वे कभी स्थायी रूप से जम नही सके। देश के किसी न किसी कोने मे अवसर पाते ही हिन्दुओं का विद्रोह भड़क उठता और नये राज्य स्थापित हो जाते थे। मुसलमानों ने अपने आप को मुगलो के पूर्व सदा विदेशी अनुभव किया। राणा संग्रामसिह ने बाबर को लोदियों के विरुद्ध इस कारण निमंत्रण दिया था कि लोहे से लोहा काट दिया जाय। उनका अनुमान था कि मुगल इन अफगानो को परास्त कर लौट जाएँगे और भारत मे फिर हिन्दू राज्य के सस्थापन का अवसर मिल

मुगलो का प्रयास

सकेगा। राणा ने सोची तो दूर की थी, पर होनी कुछ और ही करने वाली थी। हुमायू को शाह तहमास्प ने राजपूतो से निकट सम्बन्ध स्थापित करने का उपदेश दिया* और उसका पूर्ण पालन करने का अवसर मिला अकबर को। मुगलो के पहले सूफी सत हिन्दुओ से जन-सपर्क स्थापित करने का प्रयास करते रहे थे, परन्तु वह प्रयास अधिक सफल न हो सका। अकबर ने यह नीति बहुत कुछ बदल दी। उसने जहाँ कुछ युद्धो से थके हुए एव सुलभ-वैभव-प्रिय राजपूत राजाओ से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये, वहाँ उसने वल्लभ-सम्प्रदाय का उपयोग भी हिन्दुओं के मुगल साम्राज्य के विरोध को कम करने के लिए किया। अकबर जैसा कूटनीतिज्ञ यह समझ गया था कि गोकुल के इन मोहन-मंत्र-दाताओं द्वारा हिन्दुओ की प्रतिरोध की शक्ति का ह्रास अवश्यभावी है। उसकी नीति धार्मिक उदारता पर आधारित नही थी, अन्यथा न तो तुलसीदास का नाम मुगल इतिहासकारो द्वारा उनके इतिहास-ग्रन्थों मे वर्ज्य समझा जाता और न अयोध्या के राममन्दिर का बाबरी मजिस्द से रूप-परिवर्तन असम्भव हो सकता, और न मथुरा-वृन्दावन मे अनेक कृष्ण-मन्दिरों का निर्माण करने की आज्ञा देकर अयोध्या और काशी के राम-मन्दिरो के प्रति वह अनुदार हो जाता। जैसे-जैसे अकबर का साम्राज्य जमता और बढ़ता गया, पुष्टिमार्ग भी वैसे ही वैसे विस्तार पाता गया। ग्वालियर का अथवा पुष्टिमार्ग का इतिहास विस्तार से इस पुस्तक मे लिखना सम्भव नही, उसकी आवश्यकता भी नही। यहाँ इस पुस्तक की सीमाओ मे रह कर, हम केवल अत्यन्त सक्षेप मे उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे, जिनके कारण हिन्दी का कुछ शताब्दियो तक ग्वालियरी नाम रह कर उसे ब्रजभाषा नाम मिला। इसके लिए वल्लभ-सम्प्रदाय के राजनीतिक रूप पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

---

* गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ३११।

भाषा एवं धार्मिक राजनीति के क्षेत्र मे सोलहवी शताब्दी के प्रारभ से जो परिवर्त्तन प्रारभ हुआ, उसे समझने के लिए पुष्टिमार्ग के इतिहास की कुछ घटनाएँ एव तिथियाँ स्मरण रखने योग्य है। जब ग्वालियर के तोमरों का प्रताप अपनी चरम सीमा पर था, उसी समय ईसवी सन् १४६३ मे गोदावरी तटवर्त्ती कांकरवाड निवासी द्वादश वर्षीय तैलग ब्राह्मणकुमार वल्लभाचार्य ने उत्तर भारत की यात्रा प्रारभ की। काशी, उज्जैन होते हुए वे सन् १४६३ ई० मे गोकुल पहुँचे। सन् १५०१ ई० मे गोवर्धन मे उनके द्वारा श्रीनाथ जी के मदिर की स्थापना हुई। यह वह समय था जब समस्त भारत मे कृष्णभक्ति की एक लहर फैल चुकी थी। बगाल, उडीसा, असम और बिहार मे कृष्ण की मधुर लीलाओ का गान प्रारभ हो गया था। पूरब मे ब्रजराज, ब्रजभूमि और ब्रजबोली लोक-मानस को आकृष्ट कर रहे थे। दक्षिण मे तो यह भक्ति की धारा प्रवाहित ही हुई। मध्यदेश, राजस्थान और गुजरात मे भी कृष्णचरित्र की ओर आकर्षण प्रारभ होगया था। कृष्ण का लीलास्वरूप जैन ग्रन्थकारो को भी आकर्षित कर चुका था। उसी समय पुष्टिमार्ग की मधुर भक्ति का स्रोत प्रवाहित होना प्रारभ हुआ। प्रारभ मे यह कृष्ण के बाल-गोपाल रूप को प्राधान्य देकर चला, परन्तु धीरे-धीरे सख्य एव सखी भाव की ओर अग्रसर होता गया।

वल्लभ-सम्प्रदाय

भाषा के क्षेत्र मे सर्वप्रथम वल्लभाचार्य जी ने नाम-परिवर्तन प्रारम्भ किया। वे हिन्दी मे उपदेश देते थे और उस भाषा को पुरुषोत्तम-भाषा कहते थे। यह उनके लिए आवश्यक भी था। उनके समय मे ग्वालियर दिल्ली शासको का प्रबल विरोधी था, लोदियों का भी और फिर मुगलों का भी। अपने उपदेशों की लोक-भाषा का नाम ग्वालियरी भाषा देने से गोकुल के तत्कालीन शासको का उन्हें कोप-भाजन बनना पड़ता, अतएव इस झगड़े से बचने के लिए पुरुषोत्तम-भाषा नाम श्री वल्लभाचार्य द्वारा अपनाया गया। ग्वालियरी भाषा नाम के विलोपन की यह प्रथम सीढ़ी थी। वल्लभाचार्य

पुरषोत्तम-भाषा

के समय तक पुष्टिमार्ग दिल्ली की राजनीति से सम्बन्ध स्थापित नही कर सका था। उनका तिरोधान सन् १५३० ई० में होगया। तब तक मुगल अपनी जडे भारत मे नही जमा सके थे। ईसवी सन १५२६ में पानीपत के युद्ध मे बाबर विजयी हुआ ही था और उसकी नीति भारत से सम्पर्क स्थापित करने की नहीं थी।

विट्ठलनाथ जी

वल्लभ सम्प्रदाय को अत्यन्त विशद रूप गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय मे प्राप्त हुआ। पुष्टिमार्गी आचार्यो मे ये अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति होगये है। सन् १५५० ई० में ये विधिवत पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य बना दिये गये। इस घटना के छह वर्ष पश्चात सन् १५५६ ई० मे दिल्ली के सिहासन पर अकबर आसीन हुआ। अपने प्रारम्भिक जीवन में ये दोनों महापुरुष अपने-अपने मार्ग पर आगे बढते गये। गोस्वामी जी ने सम्प्रदाय के वैभव और प्रभाव को बहुत अधिक बढाया और अकबर ने लगभग समस्त उत्तर भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। उसने कुछ राजपूत राजाओ से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे। सर्व प्रथम कछवाहा राजा भारमल की राजपुत्री से सन् १५६२ में विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर अकबर ने हुमायू को शाह तहमास्प द्वारा दी गयी शिक्षा का श्रीगणेश किया था। सैन्यबल से उत्तर भारत के कुछ राजपूतो का राज्य जीत तो लिया गया, परन्तु जब तक उनके मन को न जीता जाता तब तक मुगल साम्राज्य ज्वालामुखी के मुहाने पर ही स्थित रहता। मेवाड़ के राणा और बुन्देलखड के बुन्देले तथा कुछ अन्य राजपूत कभी भी मुगल साम्राज्य को समाप्त करने का प्रयास कर सकते थे। अम्बर के राजा से विवाह-सम्बन्ध यद्यपि उस वैमनस्य को दूर करने का प्रबल प्रयास था, परन्तु उसके कारण अम्बर के कछवाहों को ही नीचा देखना पड रहा था, भारत से वास्तविक तादात्म्य स्थापित करने के लिए कुछ और करने की आवश्यकता थी।

सन् १५७७ ई० मे विट्ठलनाथ जी से अकबर की प्रथम भेट आगरा मे

हुई। उस समय तक मुगल दरबार मे जितने हिन्दू राजा, सामन्त, कलावन्त कृपापात्र हो चुके थे, वे सब धीरे धीरे विट्ठलनाथ जी के शिष्य होने लगे। राजा टोडरमल, बीरबल, आसकरण कछवाहा, बीकानेर के पृथ्वीसिह, तानसेन आदि श्री गुसाई जी महाराज के कृपापात्र बने। इनके अतिरिक्त अब्दुल रहीम खानखाना का झुकाव भी इनकी ओर हो गया था। मुगल सम्राट की माता हमीदाबानू तथा अकबर के हरम की अनेक राजमहिषियाँ गुसाई जी की चेली बनी। वार्त्ता का कथन है कि रूपमजरी जो पृथ्वीपति (अकबर) की परिणीता थी, नित्य रात को आकाश मार्ग (?) से उडकर गोसाई जी के सेवक नन्ददास जी के पास आती थी। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को मुगलों की ओर से न्यायाधीश के अधिकार भी प्राप्त हुए। उन्हें निर्भय रहने के फरमान निकाले गये*। गोकुल और महावन की भूमि जागीर मे दी गयी। विट्ठलनाथ जी को 'गुसाई जी' की पदवी भी अकबर की दी हुई है। ऐसे अनेक प्रसग आए जब गोसाई जी के पत्र ने मुगल दरबार मे बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाए।

मुगल दरबार और पुष्टिमार्ग

अकबर का पुष्टिमार्ग के आचार्य के प्रति उनके धार्मिक सिद्धान्तों के कारण आकर्षण नही था। यह हम ऊपर लिख चुके है कि इसका एक कारण गुसाई जी की सभा का संगीत और आमोद-पूर्ण वातावरण भी था। साथ ही इसका एक राजनीतिक कारण भी था। अकबर को हिन्दुओं की स्वातन्त्र्य-भावना तथा इसी कारण राम की भक्ति से सदा भय रहता था। पुष्टिमार्ग मे श्री कृष्ण का जो रूप अपनाया गया था, वह उनका रसिक शिरोमणि का था तथा उनके अनुग्रह की प्राप्ति के लिए प्रेमलक्षणा भक्ति का, विशेषत गोपांगनाओ के

अकबर के ममत्व का कारण

---

* कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी इम्पीरियल फरमान्स, फरमान सख्या १, २ तथा ३।

परकीया प्रेम का सरस मार्ग निर्धारित किया गया था। हिन्दुओं के नैतिक स्खलन की जो सभावना इससे थी, उससे मेवाड़ के राणा प्रताप जैसे मुगल सन्तनत के शूल अधिक उत्पन्न नही हो सकते थे।

उत्तर भारत मे अकबर को मेवाड के राणा और बुन्देलखड, दो सदा दुखद कण्टक रहे। अकबर की सेना ने चित्तौड़ को तहस-नहस कर दिया। परन्तु राणाओ की स्वातन्त्र्य-भावना का दमन न हो सका।

मेवाड और बुन्देलखड

विट्ठलनाथ जी ने वहाँ अपना प्रभाव जमाने का प्रयास किया। वार्त्ता का कथन है कि मीराबाई ने कृष्ण की परम भक्त होते हुए भी गुसाई जी का शिष्यत्व ग्रहण नही किया। इसका कारण उनका मेवाड के तेजस्वी कुल से सम्बन्ध ही हो सकता है। वार्त्ताओं मे मीराबाई के विषय मे जो "दारी रांड"* जैसे अपमान-जनक शब्द लिखे है, वे इसी धार्मिक राजनीति के परिणाम है। बुन्देले मधुकरशाह के शिष्यत्व के विषय मे हम पहले लिख चुके है। वल्लभाचार्य के समय का विशुद्ध भक्तिमार्गी सम्प्रदाय विट्ठलनाथ जी के समय तक मुगल राजनीति का हस्तक बन गया था।

परन्तु मुगल दरबार का एक अ श ऐसा भी था जो विट्ठलनाथ जी की ओर अधिक आकर्षित नही हो सका था। वह भाषा की ऐतिहासिक परम्परा के नाम को ही स्वीकार करता था। मौलाना हाफिज मुहम्मद

मुगल दरबार मे ग्वालियरी

महमूदखां शेरानी ने लिखा है "फारसी अहलकलम उर्दू को हिन्दी या हिन्दवी कहते है और ब्रज को ग्वालियरी। मुगलिया अहद के मुसन्नफीन अबुल फजल, अब्दुल हमीद लाहौरी, मुहम्मद सालह, बल्कि खान आरजू तक ब्रज को इसी नाम से पुकारते है।"† इसके विपरीत विट्ठलनाथ जी के

---

* चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता, पृष्ठ २०७।

† ओरिएण्टल कालेज मेगजीन, नवम्बर, १९३४, पृष्ठ २ (श्री चन्द्रबली पाडे के 'केशवदास' में पृष्ठ २९३ पर उद्धृत)।

परम शिष्य पृथ्वीसिह रचित 'वेलि' के अनुवादक गोपाल ने उसे 'ब्रजभाषा' कहा है । वल्लभाचार्य की पुरुषोत्तम भाषा भी गयी, और भाषा के विकास परम्परा की ग्वालियरी भी छूटी तथा रह गया ब्रजभाषा नाम, जो बगाल की ब्रजबोली को बडा बना कर—भाषा बना कर, रखा गया था।

शासकीय रूप से ब्रजभाषा नाम मुगलो के इतिहास-लेखको ने स्वीकार नही किया । मराठों और महाराष्ट्र ने भी उसे नही माना, जैसा कि केन्दूरकर और महादजी शिन्दे के प्रसग मे हम पहले लिख चुके हैं ।

अग्रेज और ब्रजभाषा

फिर यह अग्रेजी राज्य मे कैसे मान्य हो गया, यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है । अग्रेज़ो ने हिन्दी सीखी श्री लल्लूलाल से । उन्हे फोर्ट विलियम कालेज मे सन् १८०० ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अग्रेज अफसरों को हिन्दी पढ़ाने के लिए नियुक्त किया गया। इनके द्वारा हितोपदेश का अनुवाद 'राजनीति' नाम से किया गया और उसकी भाषा का नाम ब्रजभाषा दिया गया। जिस प्रकार लल्लूलाल जी के प्रेम-सागर से हिन्दवी, हिन्दी या खडी बोली नाम स्वीकृत हुए और चल गये, उसी प्रकार उनकी पुस्तक राजनीति से ब्रजभाषा नाम चल गया । बगाल मे जन्मा हुआ यह ब्रजभाषा नाम इस प्रकार मध्यदेश मे आया और जब अग्रेज शासको द्वारा मध्यकालीन काव्यभाषा के लिए स्वीकृत हो गया, तब हमारे वर्त्तमान भाषा और साहित्य के विवेचकों ने भी उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु जैसा हम पहले अनेक बार लिख चुके है, केवल यह नाम ही स्वीकार किया गया। काव्यभाषा का रूप मथुरा-गोकुल की सीमा तक, कुछ अत्यन्त उत्कट ब्रजभक्तों के अतिरिक्त किसी ने नही माना। कविरत्न श्री सत्यनारायण के 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' के अनुवादो की भाषा की अलोचना करते हुए प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है* "कविरत्न जी के ये दोनों अनुवाद बहुत ही सरस हुए है जिनमे मूल के भावो की रक्षा का

---

* रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४६।

भी पूरा ध्यान रखा गया है। पद्य अधिकतर ब्रजभाषा के सवैयों मे है जो पढने मे बहुत मधुर हैं। इन पद्यो में खटकने वाली केवल दो बातें कही-कही मिलती है। पहली बात तो यह कि ब्रजभाषा साहित्य मे स्वीकृत शब्दो के अतिरिक्त वे कुछ स्थलो पर ऐसे शब्द ले आए है जो एक भू-भाग तक ही (चाहे वह ब्रजमडल के अन्तर्गत ही क्यो न हो) परिमित है। शिष्ट साहित्य मे ब्रजमडल के भीतर बोले जाने वाले सब शब्द नही ग्रहण किये है। ब्रजभाषा देश की सामान्य काव्यभाषा रही है। अत काव्यो मे उसके वे ही शब्द लिये गये है जो बहुत दूर तक बोले जाते है और थोडे बहुत सब स्थानो मे समझे जाते है।" इसलिए हमारा निवेदन है कि ब्रजभाषा केवल एक नाम है, किसी भाषा के रूप का प्रतीक वह नही है, हिन्दी की विकास-परम्परा का भी वह नाम नही है। जो भूल हमारे साहित्य के इतिहासो मे हुई, उसे सत्यनारायण जी द्वारा भावुकता वश, जरा ज्यादा खीच दिया गया।

ग्वालियरी दोहे

मध्यकालीन हिन्दी को ग्वालियरी भाषा नाम देने मे ग्वालियर के गेय पदसाहित्य ने जो योग दिया, उसका विवेचन हम पिछले कुछ परिच्छेदों मे कर चुके है। जिस भाषा ने गेय पदसाहित्य मे नवीन परिष्कृत रूप धारण कर समस्त भारत मे विस्तार पाया तथा जिन कारणो से और जिन परिस्थितियों मे यह विस्तार हुआ, उसका विवेचन भी हो चुका। परन्तु गेय पद-साहित्य ही बुन्देलखण्ड या ग्वालियर की एक मात्र देन नही है। पन्द्रहवी शताब्दी और प्रारंभिक सोलहवी शताब्दी मे ग्वालियर और ओड़छा मे हिन्दी साहित्य की शेष तीन प्रवृत्तियो ने भी विकास पाया। वे तीन काव्य-धाराएँ है--दोहा-साहित्य, प्रबन्धकाव्य और रीति-ग्रन्थ। आगे के परिच्छेदों मे इन तीनो के विषय मे विचार करना अभीष्ट है। सर्व प्रथम हम दोहा-साहित्य के उद्गम और विकास का विवेचन करेंगे।

दोहा-साहित्य, प्रबन्धकाव्य और रीति-ग्रथ

दोहा-साहित्य पर विचार करते समय हम पुन एक बार वजही का उल्लेख करने के लिए बाध्य है। वजही ने ग्वालियर के चतुरों के दोहे अपने 'सबरस' मे उद्धृत किये है*। वे उसके मन मे घर कर गये थे और सन् १६०० मे उसे सुदूर दक्षिण मे भी स्मरण रहे थे। जीवन-दर्शन के रहस्यो से भरे हुए ये मार्मिक दोहे सन् १६०० के पूर्व ग्वालियर मे किसने लिखे? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें अभी नही मिल सका है। श्री भा० रा० भालेराव ने हमे किसी मोहनदास के सोरठो का बहुत बड़ा

वजही

---

* पीछे पृष्ठ २४ देखिए।

सग्रह दिखाया। मोहनदास सोलहवी शताब्दी के तॅवरघार के संत कवि हैं। उनके सोरठे सुन्दर है परन्तु वे वजही को प्रभावित नही कर सकते। आखिर ये दोहे गये कहाॅ?

इसका कुछ उत्तर तो वजही द्वारा ही मिल जाता है। वजही ने एक दोहा उद्धृत किया है —

कबीर की	पोथी थी सो खोटी भई, पडित भया न कोय।
साखियाँ	एकै आखर पेम का पढे सो पडित होय ।।

कबीर के नाम से भी एक दोहा प्रसिद्ध है* —

पोथी पढ पढ जग मुवा, पडित भया न कोय।
एकै अच्छर पीव का पढै सो पडित होय ।।

यही दशा वजही द्वारा उद्धृत अन्य दो दोहो की है। इसका क्या रहस्य है? क्या वजही को यह ज्ञात नही था कि ये दोहे कबीर के कहे हुए है। जैसे उसने अमीर खुसरो का पद्य उसके नाम से ही लिखा है, वैसे वह इन दोहो का जनक कबीर को न लिखते हुए 'ग्वालेर के चातुरा' 'ग्वालेर के सुजान' तथा 'ग्वालेर के गुनी' के नाम क्यो लिखता है? सब जानते है सत कबीर ने कोई पोथी लिखी नही, आगे उनके शिष्यो ने उनकी वाणी को सग्रहीत किया है। तब क्या ये ग्वालियरी टकसाल के दोहे कबीर के नाम से चलने लगे? बात दिखती तो कुछ ऐसी ही है।

सन् १५५६ (सवत् १६१६) मे जेसलमेर मे वाचक कुशललाभ ने माधवानल कामकन्दला चउपई लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना यह है:—

	सवत सोल सोलोत्तरइ, जेसलमेरु-मझारि।
कुशललाभ के	फागुण सुदि तेरसि दिवसि, विरची आदितवार ।।
दोहे	गाहा गूढा चउपई, कवित कथासम्बन्ध।
	कामकदला कामिनी, माधवानल सम्बन्ध ।।

---

* श्यामसुन्दरदास कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३९।

कुशललाभ वाचक कहइ, सरस चरित सुप्रसिद्ध ।
जे वाचइ जो सभलइ, त्रिया मिलई नवनिद्ध ।।
गाथा साढी पचसइ, अे चउपई प्रमाण ।
ताह सुणता सुख दियइ, जे हुर चतुर सुजाण ।।
राउल माल सुपाट कर, कुवर श्री हरिराजि ।
विरच्यो इह सिणगार रस, तास कुतूहल-काजि ।।

इस प्रकार की भाषा के सहारे कुशललाभ का कथाप्रवाह चलता है। एक स्थान पर उसके इस ग्रन्थ मे प्रसग चलता है* —

पूरव भव सिणेह रस, लोयण जाणावति ।
अप्पिय दिठ्ठइ मउलीयइ, पिउ दिठ्ठइ विहसति ।।२०६।।
नयण पदारथ नयण रस नयणे नयण मिलति ।
अणजाण्या सिउ प्रीतडी, पहिली नयण करति ।।२०९।।
नयण मिलती मन मिलइ, मन मिली वयण मिलति ।
अे त्रिणि मेलेवी करि, काया-गढ भेलति ।।२१०।।

परन्तु अचानक अगले चार दोहे कुछ और प्रकार की ही भाषा मे है। वे इस प्रकार है—

लोचन तुम हौ लालची, अति लालच दुख होइ ।
जूठा सा कछूत्तर मोहै, साच कहैगो लोइ ।।२११।।
लोचन बपरे क्या करे, परे प्रेमके जाल ।
पलक विजोग न खम सकैं, देख देख भए लाल ।।२१२।।
लोचन बडे अपत्त है, लगै पर मुख धाइ ।
आगि बिडाणी आणिकै, तन मे देत लगाइ ।।२१३।।
लाली मेरे लाल की, जित देखु तित लाल ।
लालन देखन मै चली, मै भी भई गुलाल ।।२१४।।

सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्ध के समाप्त होते-होते (सन् १५५६ ई०)

---

* मज्मूदार माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध पृष्ठ ४०० ।

कुशललाभ यह किसकी 'बिरानी आग उठा लाए, कहाँ उनके 'अपत्त लोचन' लग गये। इस भाषा को यदि विष्णुदास, थेघनाथ तथा मानिक की भापा से मिलाया जाए और साथ ही वजही के दोहों की भाषा से मिलाया जाए, तव ज्ञात होगा कि यह वही भाषा है जिसे जयकीर्ति* ने 'ग्वालेरी भाषा गुपिल' कहा है अथवा जिसे वजही ने ग्वालियर के चतुरो की वाणी कहा है।

महाकवि बिहारीलाल की बात तो हम आगे कहेगे, क्योकि वे सत्रहवी शताब्दी के दोहाकार हे। यहाँ हम चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती का उल्लेख कर देना चाहते है। मधुमालती के रचनाकाल पर हमने विस्तार से अन्यत्र प्रकाश डाला है†। यहाँ हम सक्षेप मे यह कह दे कि हमारे मत से चतुर्भुजदास सन् १५२६ के पूर्व का कवि है और पद्मनाभ, मानिक आदि कायस्थो की परम्परा का है। वह किस प्रकार के दोहे-सोरठे लिखता था, इसकी बानगी देख लीजिए —

चतुर्भुजदास निगम

भई विरह बस बाल मधु मूरति निरखी नयन।
मनहु कोवरी जाल, गिरी मीन ज्यो मालती ॥
सुवटा सेवरि देख मनहु अब ते सुभ्र फल।
फुनि पाके ते पेख देह पिजारे लो भई ॥
तिया हरन बाधव मरन पुत्र हरन सुवियोग।
एतो दुख जिन सजियो करहि विधाता जोग ॥
तो तन औरै चाहि मोमन कछु औरै बसै।
ज्यो गूगे की गाह मन की मन मे ही रहै ॥
मन कपूर की एक गति, कोऊ न करौ हजार।
ककर कचन तजि रच्यौ, गुजा मिरच अरु सार ॥

---

* पीछे पृष्ठ ३७ देखिये।

† प्रस्तुत लेखक की पुस्तक . चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती।

मो जलपथी की भई ढिग अहि काठ तिराय।
जौ न गहू तो बूढिहो गहू तो विषधर खाय ॥
ससि सूरज अर सुरसुरी श्रीपति सबै अनूप।
निस्वारथ पर घर गये भये दीन लघु रूप ॥
फूले कुमुद विसाल पछी आश्रम को चले।
डरपन लागी बाल सखी सकल ढिग मालती ॥
मृगमद गजसिर स्वाति सुत पन्नग मुख मनिराज।
जातै निर्धन ही भलौ जीवत न आवै काज ॥
अपनी अपनी गरज तै जग चितवत चहुँ ओर।
बिना गरज लरजै नही जगल हू कौ मोर ॥
सुख के साजन वहुत हैं दुख के देखे झीन।
सोना सज्जन कसन को विपत कसौटी कीन ॥
ग्यॉन दीप जौलौ सुथिर थिरकि रहैं मन माहि।
तिय लोचन चचल पवन तोलौ लागत नाहि ॥
तरुन पुरिस गहि वेदविधि तो लौ करहि सयान।
जो लौ उर भेद्यो नही त्रिय दृग वारिज बान ॥

वास्तव मे यह समस्त दोहा-साहित्य सस्कृत-सूक्तियों, प्राकृत-गाथाओं और अपभ्र श की सूक्तियो पर आधारित है। भाव वे ही है, भाषा अवश्य बदल गयी है। उदाहरण के लिए एक दोहा जो चतुर्भुजदास ने मधुमालती मे लिखा है द्रष्टव्य है :—

दोहा साहित्य का मूल

कम्मोदनि जल थल बसै चदा बसै अकास।
जो जाके मन भावतो सो ताही के पास ॥

इसे ही कुशललाभ ने इस प्रकार लिखा है —

काम कमोदन जल वसइ, चन्दो बसइ आकासि।
जे ज्याहि के मन वसइ, ते त्याही के पास ॥

ये दोनो ही दोहे सस्कृत के सुभाषित पर आधारित है।

प्रश्न यही है कि इन सूक्तियों एव गाथाओं को काव्यभाषा मे रूपान्तरित कहॉ किया गया होगा और उनकी टक्कर के दोहे कहॉ लिखे गये होगे ? वजही का प्रमाण, कुशललाभ के उद्धरण, चतुर्भुजदास के दोहे सब मध्यदेश और उसमे भी ग्वालियर की ओर इ गित करते है ।

वैसे तो दोहे बहुत लिखे गये, परन्तु हिन्दी मे वे अपने चरम विकसित रूप मे बिहारीलाल की सतसई मे दिखाई दिये । यदि गीतिकाव्य की सीमा सूर मे है, प्रबन्धकाव्य की तुलसी

बिहारीलाल

के मानस मे, तो दोहा-रचना की पराकाष्ठा बिहारी की सतसई मे है। बिहारी की जन्म-भूमि विश्रुत है। उनका बालपन बीता बुन्देलखड मे —

जनमु ग्वालियर जानियै खण्ड बुँदेलै बालु ।
तरुनाई आयी सुघर बसि मथुरा ससुरालु ।।

बिहारीलाल केशव के पुत्र थे या नही, इसके विवेचन का यह स्थान नही, परन्तु उनका अध्ययन-मनन-काल इसी मार्मिक दोहे कहने वाले भूखण्ड का है, यह निर्विवाद है । उसका प्रसाद उन्हे मिर्जा राजा जयशाह की राजसभा मे मिला, परन्तु इसका कारण यही था कि उनके समय तक यहॉ गुण तो बहुत बचा था, गुण-ग्राहक नही रह गये थे ।

आज की जानकारी मे ग्वालियरी दोहो पर इतना ही कहा जा सकता है । परन्तु अभी वजही द्वारा इ गित दोहो के भण्डार को खोज निकालने का काम शेष है । देखे भविष्य मे किसी कचरे मे ये रत्न मिलते है या नही ? आगे के प्रकरण से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी मे ग्वालियर मे वह परिस्थिति थी अवश्य, जिसमे संस्कृत और अपभ्र श के साहित्यो का प्रचुर मनन हुआ, उन दोनो भाषाओ मे रचनाऍ भी हुई और हिन्दी का काव्यभाषा का रूप भी निखरा ।

पद्मावत, मानस और रामचन्द्रिका की पृष्ठभूमि

प्राप्त सामग्री के आधार पर अब तक हिन्दी साहित्य के जो इतिहास लिखे गये है उनमे तेरहवी शताब्दी तक के कुछ अनिश्चित रूप तथा काल के प्रबन्ध-काव्यो का विवरण मात्र मिलता है। उनके पश्चात एक दम सोलहवी शताब्दी के प्रबन्ध-काव्य सामने आते है।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्य

सोलहवी शताब्दी मे प्रबन्ध-काव्यो का रूप इतना पुष्ट मिलता है कि वे भी कुछ उलझन उत्पन्न करते है। जायसी के पद्मावत, केशवदास की रामचन्द्रिका तथा गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के मूल मे यदि प्रबन्ध-काव्यों की कोई परम्परा न होती, तब वे साहित्य के इतिहास मे चमत्कार ही माने जाते। भले ही तुलसी के मानस और केशव की रामचन्द्रिका के पीछे सस्कृत और अपभ्र श प्रबन्ध-काव्यो की पृष्ठभूमि है, और जायसी के पीछे फारसी की मसनवियो की, फिर भी 'भाषा' मे एकाएक इतनी प्रौढ रचना और स्वय इस 'भाषा' की तदनुरूप अभिव्यक्ति-क्षमता बिना किसी परम्परा के सभव नही हो सकती। जिस प्रकार सोलहवी शताब्दी की गेय पद-रचना की पृष्ठभूमि मे मध्यदेश—ग्वालियर की गेय पद-रचनाएँ थी, उसी प्रकार सोलहवी शताब्दी के इन प्रबन्ध-काव्यो के पीछे भी मध्यदेश, विशेषत ग्वालियर की प्रबन्ध-काव्यो की परंपरा थी। ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व मध्यदेश के तीन केन्द्र प्रबध-काव्यो की सृष्टि कर रहे थे—महोबा, दिल्ली और मेवाड। ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी मे प्रबन्ध-काव्यों के इस क्षेत्र का समाहार ग्वालियर मे हुआ। इस प्रकार बीज रूप से सोलहवी शताब्दी के जायसी, केशव और तुलसी के प्रबन्ध-काव्यो का मूल मध्यदेश मे मिलता है।

ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व हिन्दी, सस्कृत तथा अपभ्र ंश मे लिखे

गये समस्त प्रबन्ध-काव्यो का विवेचन न तो यहाँ संभव ही है और न उपयोगी ही। यहाँ स्वयभू के पद्मचरित और यशोधरचरित तथा अन्य जैन लेखको के पद्मचरित तथा यशोधरचरितों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इनमे ही हिन्दी के राम और कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यो का मूल निहित है। विक्रमादित्य सम्बन्धी आख्यान-साहित्य भी आगे प्रबन्ध-काव्यो को प्रेरणा देता रहा। ये प्रबन्ध-काव्य सरस प्रेमाख्यानो के रूप मे पश्चिम मे लिखे गये। हितोपदेश, वैतालपच्चीसी, सिहासनबत्तीसी आदि की कथाओ पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे जा चुके थे, जो अत्यधिक लोकप्रिय भी हो चुके थे। राजपूतों के आश्रय मे जगनिक तथा चन्दवरदायी ने वीर और शृंगार रसो से ओतप्रोत प्रशस्ति-प्रबन्ध भी लिखे थे। इसी बीच रणथम्भोर के हम्मीरदेव और अलाउद्दीन के बीच लोमहर्षण सघर्ष हो चुका था। यह घटना कुछ वर्षों के भीतर ही भारत का राष्ट्रीय साका बन गयी और उस पर अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गये। मालवा के परमारो के काल मे साहित्य और कलाओ की जो उन्नति हुई थी, उसकी परम्परा भी मध्यदेश को मिली। मालवा मे जब परमारों पर सकट आया, तब वे धीरे-धीरे मध्यदेश की ओर बढ़ने लगे। उदयादित्य के समय मे ही वे भेलसा के पास उदयपुर मे राजधानी ले आए थे। बाद मे तो परमारों को करहरा–पिछोर-गिर्द मे ही स्थान मिला और इस क्षेत्र मे पमारी फैल गयी। महोबा के चन्देलो की राज-सभा मे प्रबन्ध-काव्यो का अत्यन्त शालीन रूप प्रस्तुत किया गया था। जगनिक का उल्लेख पहले हम कर ही चुके है। सोमदेव का कथा-सरित्सागर सन् १०६३–१०८१ के बीच मध्यदेश मे ही लिखा गया था। धगदेव के समकालीन त्रिविक्रम भट्ट ने दमयतीकथा लिखी और कीर्तिवर्मन् चदेल की राजसभा मे कृष्ण मिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लिखा गया। इसी नाटक को केशवदास ने अपनी विज्ञान-गीता का आधार बनाया। दिल्ली मे अमीर खुसरो ने फारसी मे बहुत प्रौढ़ मसनविया

ईसवी पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व का प्रबन्ध-साहित्य

लिखी। वे फारसी-साहित्य-जगत मे निजामी, फिरदौसी, हाफिज, सामी, जामी आदि की बराबरी करते है* । दिल्ली मे मुल्ला दाऊद ने अपनी मसनवी 'चन्दावन' लिखी† जो जायसी के प्रबन्धकाव्य की आधार-शिला थी।

तोमरों के पूर्व ग्वालियर का प्रबन्ध-साहित्य हमे अभी नही मिल सका है। परन्तु परमार, प्रतिहार, कच्छपघात, जज्वपेल आदि राजवशो के जो शिलालेख मिले है वे उस समय की परिष्कृत काव्यभाषा का रूप अवश्य प्रस्तुत करते है। वे सब सस्कृत मे है, परन्तु उनमे भाषा-परिमार्जन का प्रयास स्पष्टत दिखाई देता है। हर्षवर्धन के पश्चात से जब तक मुगलो का शासन नही आगया, ग्वालियर, नरवर, ओडछा किसी न किसी रूप मे अपना स्वतत्र अस्तित्व बनाए रहे। ईसवी सन १३६८ मे ग्वालियर पर तोमरो के शासन-काल से एक नवीन सांस्कृतिक युग का प्रारभ दिखाई देता है। तोमरो का सम्बन्ध दिल्ली से तो था ही, जैन साधुओं से भी उनका निकट सम्बन्ध था। हिन्दू सस्कृति तो उनकी राजसभा का अभिन्न अश ही थी। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारभ तक के भारत के सास्कृतिक वैभव का तत्त्व ग्रहण कर सोलहवीं शताब्दी के तोमर चले थे। तोमरगद्दी पर बैठने वाला प्रत्येक राजा इस परम्परा को आगे ही बढ़ाता रहा। दिल्ली, महोबा और मेवाड़ मे हुए सांस्कृतिक नवोन्मेष के साथ-साथ ग्वालियर का सन् १३६८ से १५२६ ई० तक का इतिहास दृष्टि मे न रखने पर ही हमे जायसी, केशव और तुलसी के महाकाव्य एकाएक उद्भूत दिखाई देते हैं। वास्तव मे वे एक क्रमिक विकास के परिणाम है। यहाँ हम अत्यन्त सक्षेप मे तोमरो के

ग्वालियर का प्रबन्ध-साहित्य

---

* राहुल साकृत्यायन अवधी की बेटी हिन्दी, हिन्दुस्तान साप्ताहिक, ९ अक्तूबर १९५५, पृष्ठ ८।

† पीछे पृष्ठ ४२ देखिए।

काल मे ग्वालियर द्वारा प्रबन्ध-काव्यों की रचना मे दिये गये योगदान पर प्रकाश डालेगे। सौ-सवासौ वर्ष मे हिन्दी पर अपनी अमिट छाप छोड कर उसे ग्वालियरी भाषा नाम देने मे ग्वालियर की पद-रचना ने ही कार्य नही किया, प्रबन्ध-साहित्य ने भी योग दिया है, यह स्पष्ट है।

तोमर राज्य के सस्थापक वीरसिह देव (१३६८ ई०) सस्कृत के विद्वान थे। हमने ग्वालियर मे ही एक सज्जन के पास वैद्यक का एक सस्कृत ग्रन्थ देखा है। उसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वह वीरसिह देव तोमर का लिखा हुआ है। कह नही सकते कि वीरसिंह ने स्वय इस ग्रन्थ को लिखा था अथवा किसी ने उसके नाम से लिख दिया, परन्तु यह स्पष्ट है कि वीरसिह विद्या-व्यसनी था और उसके समय मे शास्त्र-चिंतन और साहित्य-सृजन यहाँ चल रहा था।

वीरसिह तोमर

वीरसिह के पश्चात उद्धरणदेव का राज्य हुआ। उसकी साहित्यिक अभिरुचि के विषय मे हमे कुछ ज्ञात नही। ईसवी सन् १४०२ मे ग्वालियर की गद्दी पर वीरम अथवा विक्रमदेव तोमर बैठा। यह विक्रमदेव साहित्य का बहुत बडा आश्रयदाता था। जैन विद्वान नयचन्द्र सूरि ने इनकी प्रेरणा से ही हम्मीर महाकाव्य सस्कृत मे लिखा। नयचन्द्र सूरि ने अपने इस महाकाव्य के अन्त मे काव्य-रचना का हेतु यह लिखा है कि एक दिन सभा मे तोमर महाराज वीरम ने कहा कि पहले कवियों जैसे काव्यों की रचना आजकल नही हो सकती। उनकी इस उक्ति पर एव उनका सकेत पाकर नयचन्द्र सूरि ने यह महाकाव्य लिखा —

वीरम तोमर
—नयचन्द्र सूरि

> काव्य पूर्वकवेन काव्यसदृश कश्चिद्विधाता धुने—
> त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपते सामाजिकै ससदि।
> तदभ्रूचापलकेलिदोलितमना श्रृगारवीराद्भुत
> चक्रे काव्यमिद हमीरनृपतेर्नव्य नवैन्दु कवि.॥

वीरम देव की दिल्ली के सुल्तान के सेनापति इकबाल खा से टक्करे हो रही थी। उस वातावरण मे हम्मीरदेव की वीरगाथा ही उसे प्रेरणा दे सकती थी।

वीरम देव स्वय तो विद्वान और लेखकों के आश्रयदाता थे ही, उनके मत्री कुशराज ने भी प्रबन्ध-काव्यो की रचना कराई। कुशराज जैन था।

पद्मनाभ कायस्थ

उसने पदमनाभ नामक कायस्थ से सस्कृत मे 'यशोधर चरित' नामक महाकाव्य लिखवाया। पद्मनाभ ने अपने इस महाकाव्य की प्रशस्ति मे लिखा है —

ज्ञाता श्री कुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणि।
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्र महान्॥

वीरमदेव के समय से ही जैन धर्म का ग्वालियर मे बहुत अधिक प्रवेश हो गया था। पद्मनाभ के उल्लेख के अनुसार वीरम का महान विश्वासपात्र मत्री कुशराज जैनमतावलबी था। इसी ग्रथ मे पद्मनाभ आगे लिखता है —

मत्री मत्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारिपक्ष क्षणात्।
क्षोण्यामीक्षण रक्षण क्षममतिर्जैनेन्द्र पूजारत॥
स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिकोऽतिविमलच्चैत्यालय कारितो।
लोकाना हृदयगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रवस्त प्रभो॥
येनैतत्समकालमेव रुचिर भव्य च काव्य तथा।
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापकम्॥

पद्मनाभ को कुशराज का आश्रय था, साथ ही जैन भट्टारक महामुनि गुणकीर्ति का उपदेश प्राप्त था। वह आगे लिखता है —

उपदेशेन ग्रथोऽय गुणकीर्तिमहामुने।
कायस्थ पद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रत॥

जैन मुनियों और महामुनियों के निकट सम्पर्क ने ग्वालियर को सुदूर गुजरात तक की पिछली छह-सात शताब्दियो की साहित्य-साधना

के निकट ला दिया। गुप्तों के काल से कच्छपघातों के राज्य तक की वैष्णव एव शैव परम्परा तो इसे प्राप्त थी ही, सस्कृत से भी निकट सपर्क था। अब अपभ्रश साहित्य से भी घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। डूगरेन्द्रसिह और कीर्तसिह के अगले राज्यो मे यह सम्पर्क बहुत अधिक बढ गया। ग्वालियर और स्वर्णगिरि (सोनागिर) के जैन मन्दिरो मे स्वयभू और पुष्पदन्त जैसे महान जैन लेखकों के ग्रथ आने लगे। श्री राहुल जी का मत है कि नानापुराणनिगमागम आदि के साथ अपने रामचरितमानस के लेखन मे गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयभू के पद्मचरित से भी स्फूर्ति ली थी। स्वयभू रचित इस रामायण की सब से प्राचीन प्राप्त प्रति सन् १४६४ ईसवी मे ग्वालियर मे उतारी गयी थी*। स्वयभू के हरिवश पुराण का उद्धार भी ग्वालियर मे यश कीर्ति द्वारा किया गया था†। इस प्रकार तोमरकालीन ग्वालियर अपभ्रश के महानतम राम और कृष्ण काव्यो के निकट सपर्क मे आ गया था।

जैन सम्पर्क

सन् १४२४ ईसवी मे डूंगरेन्द्रसिह ग्वालियर के अधिपति हुए। डूगरेन्द्रसिह ने अपने राज्य की सीमाओ को भी बहुत अधिक विस्तृत किया, साथ ही साहित्य और कलाओ के क्षेत्र मे भी वीरमदेव की परम्परा को उसने बहुत आगे बढाया। हम पहले लिख चुके है कि सगीत की डागुर वाणी इन्ही डूगरेन्द्रसिह के आभीरों से निकट सम्पर्क का प्रसाद है। गोस्वामी विष्णुदास के विष्णुपद तथा रुक्मिणीमगल के गेय पद ध्रुपद के पूर्वाधार के रूप मे प्रवाहित होने लगे थे।

डूगरेन्द्रसिह

गेयपद-लेखक के अतिरिक्त हिन्दी प्रबन्धकाव्यों के भी विष्णुदास

---

* राहुल साकृत्यायन ग्वालियर और हिन्दी कविता, भारती, अगस्त १९५५, पृष्ठ १६९।

† परमानन्द जैन शास्त्री . महाकवि रइधू, वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ६९८।

पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्वार्ध के बहुत बडे रचयिता है। पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हिन्दी मे प्रबन्धकाव्य-लेखक नाम लेने को भी नही मिलते।

गोस्वामी विष्णुदास

यह एक दुखद घटना है कि यद्यपि विष्णुदास के ग्रन्थों का पता खोज रिपोर्ट मे सन् १६१२ मे ही लग गया था, परन्तु इनका उल्लेख हिन्दी के किसी साहित्य-इतिहास मे नही मिलता। विष्णुदास ने रुक्मिणीमगल के गेय पदो के अतिरिक्त महाभारत कथा, स्वर्गारोहण कथा और मकरध्वज कथा ग्रथ लिखे है। इनके तीन ग्र थ दतिया के राजकीय पुस्तकालय मे है और दो समग्र सग्रह ग्वालियर के श्री भा० रा० भालेराव जी के सग्रह मे पडे है। विष्णुदास के सम्बन्ध मे कुछ उलटा-सीधा उल्लेख मिश्रबन्धु-विनोद मे अवश्य मिलता है। यद्यपि विष्णुदास गायक और कथावाचक मात्र थे, परन्तु ससार का उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण किया था और उस समय उस भाषा का सूत्रपात कर दिया था जिसमे आगे हिन्दी मे अनेक महाकाव्य लिखे गये। महाभारत कथा मे विष्णुदास लिखते है —

विनसै धर्म किये पाखडू। विनसै नारि गेह परचडू॥
विनसे राडु पढाये पाडे। विनसै खेलै ज्वारी डाडे॥
विनसै नीच तनै उपजारू। विनसै सूत पुराने हारू॥
विनसै मागनौ जरै जु लाजै। विनसै जूझ होय बिन साजै॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई। विनसै घर होतै रन धरमी॥
विनसै राजा मत्र जु हीनू। विनसै नटकु कला विनु हीनू॥
विनसै मन्दिर रावर पासा। विनसै काज पराई आसा॥
विनसै विद्या कुसिख पढाई। विनसै सुन्दरि पर घर जाई॥
विनसै अति गति कीनै ब्याहू। विनसै अति लोभी नरनाहू॥
विनसै घृत हीनें जु अगारू। विनसै मदौ चरै जटारू॥
विनसै सोनू लोह चढायें। विनसै सेव करै अनभाये॥
विनसै तिरिया पुरिख उदासी। विनसै मनहिं हसे बिन हासी॥
विनसै रूख जो नदी किनारै। विनसै बर जु चलै अनुसारे॥

विनसै खेती आरसु कीजे। विनसै पुस्तक पानी भीजें ॥
विनसै करनु कहि जे कामू। विनसै लोभ त्यौहेरै दामू ॥
विनसै देह जो राचै वेस्या। विनसै नेह मित्र परदेसा ॥
विनसै पोखर जामे काई। विनसै बूढौ व्याहे नई ॥
विनसै कन्या हर हर हसयी। विनसै सुन्दरि परघर बसयी ॥
विनसै विप्र विन षटकर्मा। विनसै चोर प्रजा सै मर्मा ॥
विनसै पुत्र जो बाप लडाये। विनसै सेवक करि मन भाये ॥

स्पष्ट है कि यह सूक्ष्म निरीक्षण और प्रवाहमयी भाषा आगे के महाकाव्यों की सभावनाएँ अपने मे छिपाए हुए थी। ऐसे ही उद्धरणो ने ग्वालियर के चतुरों की सराहना दक्षिण मे वजही द्वारा करायी थी। विष्णुदास यह लिखना भूल गये कि यदि उनके काव्यो का स्मरण न रखा गया तो हिन्दी साहित्य के इतिहास भी विद्रूप हो जाएँगे, फिर तुलसी के मानस की प्रेरणा का मूल दिखाई देगा मलिक मुहम्मद जायसी के कलाम मे। यदि राहुल जी के मतानुसार 'श्री शभुना' मे गोस्वामी तुलसीदास के स्वयभू की रामायण पढने से तात्पर्य है, तब यह भी सम्भव नही कि उनके द्वारा विष्णुदास का यह जीवनदर्शन अनदेखा रह गया हो।

डूगरेन्द्रसिह भी वीरमदेव के समान जैन मुनियो के आश्रयदाता थे। इनके समय मे पद्मावतीपुरवाल रइधू* नामक एक बहुत बडे अपभ्रंश के लेखक ग्वालियर मे रहते थे। इसने जैनमत सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे है जिनमे पद्मचरित और हरिवश भी है।

रइधू

रइधू-रचित चालीस के लगभग ग्रन्थो का उल्लेख हमे मिला है। रइधू का महत्त्व अनेक दृष्टियों से बहुत अधिक है। पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्वार्ध का यह बहुत बडा लेखक है और अपभ्रंश की परम्परा का सभवत अन्तिम। उसकी रचनाएँ जैनमत

---

* परमानन्द जैन शास्त्री महाकवि रइधू, वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ३९८।

सम्बन्धी होते हुए भी उनसे तत्कालीन इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है और तोमरो के काल का अत्यन्त विशद चित्र सामने आता है। रइधू का साहित्य अप्रकाशित है, निश्चिन्तता यही है कि उसे जैनभडार सुरक्षित रखे हुए है।

रइधू ने ग्वालियर के तोमरो का जो वर्णन किया है, उसका उल्लेख यहाँ अनुचित न होगा। रइधू ने अपने तीन ग्रन्थ पार्श्वपुराण, पद्मचरित और सम्यकत्वगुणनिधान मे समकालीन ग्वालियर का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। पार्श्वपुराण मे उसने लिखा है कि गोपाचल उस समय समृद्ध था और जनजीवन सुखशान्ति से पूर्ण था। नागरिक धर्मात्मा, परोपकारी और सज्जन थे। उस समय ग्वालियर का राजा डू गरसिह था, जो प्रसिद्ध तोमर कुल मे उत्पन्न हुआ था। डू गरसिह और उसके पुत्र कीर्तिसिह या कीतिचन्द्र के राज्य मे प्रजा मे किसी प्रकार की अशान्ति न थी। पिता और पुत्र दोनो ही जैनधर्म मे बडी आस्था रखते थे। यही कारण है कि उस समय ग्वालियर मे चोर, डाकू, दुर्जन, पिशुन तथा नीच मनुष्य दिखाई नही देते थे, न कोई दीन-दुखी ही दिखाई देता था। वहाँ चौहट्टो पर सुन्दर बाजार बने थे, जिन पर वणिग्जन विविध वस्तुओ का व्यापार करते थे। नगर जिन-मन्दिरो से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा मे निरत थे। सम्यकत्वगुणनिधान की प्रशस्ति मे रइधू ने ग्वालियर की जैनमडली का सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि यहाँ देव, गुरु और शास्त्र के श्रद्धालु, विनयी, विचक्षण, गर्वरहित तथा धर्मानुरक्त मनुष्य रहते थे। यहाँ श्रावकजन सप्तव्यसनो से रहित द्वादश व्रतो का अनुष्ठान करते थे, जिन-महिमा और महोत्सव करने मे प्रवीण थे और जिनसूत्ररूप रसायन को सुनने से तृप्त तथा चैतन्य-गुण-स्वरूप पवित्र आत्मा का अनुभव करते थे। ग्वालियर की नारियो का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि यहाँ नारीगण दृढ़शील से युक्त थी और परपुरुषो को बान्धव-समान समझती थी। रइधू स्वय ग्वालियर के

रइधू का ग्वालियर

नेमिनाथ और वर्द्धमान के जिन-मन्दिरो के पास बने बिहार मे रहते थे। उसने अपने आप को कवित्वरूप रसायन-निधि से रसाल, वैराग्य, शान्त और मधुरादि रस से अलकृत लिखा है।

पार्श्वपुराण और पद्मचरित की प्रशस्तियों मे रइधू ने डू गरेन्द्रसिंह के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी है। डू गरेन्द्रसिह राजनीति मे दक्ष, शत्रुओ के मानमर्दन मे समर्थ और क्षत्रियोचित तेज से अलकृत था। उसके पिता का नाम गणपति या गणेन्द्र था, जो गुणो के समूह से विभूषित था। वह अन्याय रूपी नागो के विनाश मे प्रवीण, पचागमत्रशास्त्र मे निपुण तथा असि-रूप अग्नि से मिथ्यात्वरूपी वश का दाहक था और उसका यश सब दिशाओ मे व्याप्त था। वह राजपट्ट से अलकृत, विपुल भाल और बल से सम्पन्न था। डूंगरसिह की पट्टमहिषी का नाम चन्दादे था, जो अतिशय रूपवती और पतिव्रता थी। उसके पुत्र का नाम कीर्तिसिह या कीर्तिपाल था, जो अपने पिता के समान ही तेजस्वी, गुणज्ञ, बलवान और राजनीति मे चतुर था।

रइधू और डू गरेन्द्रसिह

जैसा रइधू ने लिखा है, डू गरेन्द्रसिह को जैन धर्म पर आस्था अवश्य थी। उनके राज्यकाल मे ही वे जैन प्रतिमाएँ बनना प्रारभ हुई थीं जो ग्वालियर गढ को चारो ओर से घेरे हुए है। ग्वालियर और स्वर्णगिरि के भट्टारको को इनके दरबार मे अच्छा सम्मान प्राप्त था। ऊपर जिन भट्टारक गुणकीर्ति का उल्लेख है उनके शिष्य और छोटे भाई भट्टारक यशकीर्ति भी उनके राज्यकाल मे विद्यमान थे। यशकीर्ति ने सन १३३९ इसवी मे विबुध श्रीधर द्वारा सस्कृत मे भविष्यदत्तचरित्र' और अपभ्रश मे 'सुकुमालचरित' लिखवाया। सुकुमालचरित का लेखक (लिपिकार) थलू नामक कायस्थ था। इन दोनो ग्रन्थों की प्रशस्तियो मे डूंगरसिह के राज्य-काल का उल्लेख है।

जैन प्रभाव

डू गरेन्द्रसिह के जीवन-काल मे ही उनके पुत्र कीर्तिसिह राजकाज

देखने लगे थे। डूंगरेन्द्रसिंह के पश्चात जब वे सिंहासनासीन हुए, तब डूंगरेन्द्रसिंह की नीति को उनके द्वारा आगे बढ़ाया गया। रइधू तथा अन्य जैन मंडली उसी प्रकार समादृत रही। रइधू ने अपने ग्रन्थ सम्यक्त्वकौमुदी को कीर्तिसिंह के राज्य-काल मे पूरा किया। उसकी प्रशस्ति मे रइधू ने लिखा है कि कीर्तिसिंह तोमर-कुल-कमलों को विकसित करने वाला सूर्य था और दुर्वार शत्रुओ के संग्राम मे अतृप्त था तथा अपने पिता डूंगरसिंह के समान ही राज्यभार धारण करने मे समर्थ था। सामन्तो ने उसे भारी अर्थ समर्पित किया था, उसकी यश-रूपी लता लोक मे व्याप्त हो रही थी और उस समय वह कालचक्रवर्ती था। डूंगरेन्द्रसिंह ने कछवाहो से नरवर छीन लिया था। यह विस्तृत राज्य कीर्तिसिंह को मिला था। परन्तु उसके समय मे ही मालवा, जौनपुर और दिल्ली से टक्करे प्रारम्भ होगयी थी।

कीर्तिसिंह

तोमरो को कछवाहा सदा अपना शत्रु समझते रहे, क्योकि उनका दावा ग्वालियर और नरवर पर था। परन्तु तोमरो का बुन्देलो और परमारो से बहुत घनिष्ट संबंध था। जबसे तोमर दिल्ली से आए थे, तभी से उनके विवाह-सम्बंध इनके साथ होने लगे थे। पद्मावती का राजा पुण्यपाल परमार इन ग्वालियर के तोमरो का भानजा था और सन् १२३१ ई० के आस-पास इस पुण्यपाल का विवाह वीरपाल बुन्देले की कन्या धर्मकुँवरि के साथ हुआ था। कीर्तिसिंह तोमर ने जौनपुर और दिल्ली के झगडे मे जौनपुर का पक्ष लिया और हुसेनशाह शर्की की सहायता की। परिणाम यह हुआ कि सन् १४७८ मे बहलोल लोदी ने कीर्तिसिंह पर आक्रमण कर दिया। उस समय कीर्तिसिंह तोमर की सहायता गढकुंडार के मलखानसिंह बुन्देला ने की थी। वह तोमरो की ओर से बहलोल से लड़ा था। आगे जब रुद्रप्रतापसिंह बुन्देला अपनी राजधानी ओड़छा ले आए, तब भी वे तोमरो का साथ देकर सिकंदर और इब्राहीम लोदी से

बुन्देले, परमार और तोमर

लड़ते रहे। जब लोदियों ने नरवर पर गृद्धदृष्टि डाली और पद्मावती (पवाया) मे तोमरो के विरुद्ध किलेबन्दी की तब रुद्रप्रतापसिह बुन्देला ने अपने पुत्र चन्द्रहास को करहरा मे जमा दिया, ताकि वह लोदियो को दुख देता रहे। यह करहरा कर्ण परमार ने लगभग सन १२५० ई० मे बसाया था।

कीर्तिसिह तोमर यद्यपि जैन मुनियो को आश्रय देते थे, परन्तु वे जैन नही थे। इनके राज्यकाल मे प्रसिद्ध पौराणिक पडित त्रिविक्रम मिश्र ग्वालियर आगये थे। इस मिश्र परिवार का तोमरों से सम्बन्ध दिल्ली से ही था। इनके विषय मे हम आगे लिखेंगे।

त्रिविक्रम मिश्र

इन्ही कीर्तिसिह का पुत्र भानुसिह था, जो कृष्ण का परम भक्त था। अतएव रइधू जब ग्वालियर को नितान्त जैन-पुरी के रूप मे चित्रित करता है, तब उसके कथन को सावधानी से देखना होगा। सभवत कीर्तिसिह के राज्यकाल मे ही ग्वालियर मे एक और प्रसिद्ध मिश्र परिवार आगया था, जिसके वश मे आगे वीरसिह देव बुन्देला की राजसभा मे वीरमित्रोदय जैसा व्यवहार-ग्रंथ लिखने वाले मित्र मिश्र हुए।

कल्याणसिह और अनगरग

सन् १४८१ मे कल्याणसिह या कल्याणमल्ल तोमर गद्दी पर बैठा। कामशास्त्र का ग्रन्थ अनगरग बहुत प्रसिद्ध है। उसके मराठी एव अग्रेजी के अनुवाद भी प्रकाशित हुए है। श्री भा० रा० भालेराव ने यह सिद्ध किया है* कि यह अनगरग इन्ही कल्याणमल्ल ने लिखा था। हमारा विचार है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य व्यक्ति ने कल्याणमल्ल के नाम से लिख दिया है। अन्यथा उसमे इस प्रकार के उल्लेख न होते.—

अस्यैव कौतुकनिमित्तमनगरग-
ग्रथ विलासिजन-वल्लभमातनोति।

---

* भा० रा० भालेराव कल्याणमल्ल और उनका अनगरग, भारती, अक्टूबर १९५५, पृष्ठ ३६२।

श्रीमन्महाकविरशेषकलाविदग्ध
कल्याणमल्ल इति भूप-मुनिर्यशस्वी ।।

इस ग्रन्थ मे किसी लोदी वशावतस अहमद नृपति के वशज लाड खा का भी उल्लेख है। ज्ञात यह होता है कि डूगरेन्द्रसिह एव कीर्तिसिह के वैभव ने कल्याणमल्ल को शिथिल कर दिया था और वे लोदियो से सन्धि करके आनन्द-विलास के अपने राज्य के सात वर्ष (सन् १४७६-१४८६) चैन से बिता सके। कल्याणमल्ल के समय मे कोई बड़ा सघर्ष पडौसी सुल्तानो से हुआ हो, ऐसा उल्लेख नही मिलता।

मानसिह तोमर मध्यकाल के अत्यन्त प्रतापी राजपुरुषो मे गणनीय व्यक्ति है। अपने राज्यकाल के प्रारभ (सन् १४८७) से अपनी मृत्यु (सन् १५१६ ई०) तक उसकी तलवार को चैन न मिला। उसने लोदियो से सधि रखने का प्रयास किया, परन्तु उसका राजदूत

मानसिह तोमर

निहालसिह उलटा झगडा बढ़ा आया। झगडे की जड थी ही। लाहौर का सय्यद खां शेरवानी और धौलपुर के विनायक देव लोदियो से त्रस्त होकर मानसिह की ही शरण मे ग्वालियर आ जाते थे। मानसिह को परिणामस्वरूप अपने समस्त राज्यकाल मे लोदियो से प्रबल टक्करें लेनी पडी। ऐसे विषम काल मे उसने सगीत, साहित्य, स्थापत्य एव चित्रकला को प्रोत्साहन देने का समय निकाला और प्रत्येक क्षेत्र मे अपूर्व मान स्थापित किये। मानसिह-कालीन सगीत तथा गेय पदो के सम्बन्ध मे हम पहले विस्तार से लिख चुके है। मानसिह द्वारा पोषित कलाएँ इस पुस्तक के विवेचन की सीमा से बाहर है। हम यहाँ मानसिह तोमर-कालीन प्रबन्ध साहित्य लिखने वाले लेखको पर तथा अन्य विद्वानो के विषय मे ही सक्षिप्त मे प्रकाश डालेगे। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि तोमर-कालीन ग्रथ और ग्रंथकारो की खोज अभी पूर्ण नही हुई है। अभी जो कुछ ज्ञात हो सका है उससे ही सतोष करना पड़ेगा। परतु वह इतना अवश्य है कि

सोलहवीं शताब्दी के प्रबन्ध-साहित्य की उचित पृष्ठ-भूमि उसके आधार पर स्पष्ट दिखाई देती है।

अभी तक के ज्ञात प्रबन्धकाव्य-लेखको मे डूंगरेन्द्रसिंह-कालीन विष्णुदास के बाद अयोध्या निवासी मानिक कवि के अस्तित्व का पता चलता है। इसने सन १४८९ ई० मे बेतालपच्चीसी की कथा पद्य-बद्ध लिखी थी। उसके कुछ अंश ही हिन्दी की हस्तलिखित

मानिक कवि

ग्रंथो के खोजविवरण (सन् १९२१-२४) मे प्राप्त हो सके हैं। मूलग्रन्थ की प्रतिलिपि की प्राप्ति का हमारा प्रयास सफल न होसका। परन्तु जो अंश अन्त मे हमने परिशिष्ट मे खोज विवरण से उद्धृत किये है, उनसे मानिक कवि के निवास स्थान, ग्रंथ की रचना का-समय तथा कुछ अन्य मनोरंजक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। मानिक कवि अयोध्या का निवासी कायस्थ था। उसके पूर्वज भी कवि थे। वह ग्वालियर आया और मानसिंह के सिंघई खेमल से मिला खेमल उसे राजा के पास ले गया, जहाँ उसे कोई अनूप कथा कहने का आदेश मिला। इस आदेश के पालन मे बेतालपच्चीसी की कथा दोहा--चौपाईयों मे लिखी गयी। राजनीति मे जो तोमर जौनपुर के शर्की, लाहौर के खान, धौलपुर के राजा को आश्रय देते थे, वे दूर-दूर के गुणी एवं कवियो को भी आश्रय देते थे। मानिक की भाषा अथवा उसकी कवित्वशक्ति के विषय मे प्राप्त उद्धरणो के आधार पर कुछ लिख सकना सम्भव नही, परन्तु उसकी भाषा यह अवश्य प्रकट करती है कि अवध मे भी उस काल मे मान्य काव्यभाषा मध्यदेश की भाषा ही थी। जब अयोध्या के कवि इसमे काव्यरचना करते थे, तब उसमे अवध के कुछ स्थानीय प्रयोग आना स्वाभाविक था।

सन् १५०० ईसवी का थेघनाथकृत गीता का पद्यानुवाद हमे नागरी प्रचारिणी सभा काशी के अनुग्रह से सपूर्ण प्राप्त हो गया है। यह ग्वालियर का तिथियुक्त एवं सपूर्ण प्रथम प्राप्तग्रन्थ है। इस अनुवाद मे थेघनाथ ने अपने विषय मे कुछ नहीं लिखा। केवल उसके विषय मे यह

ज्ञात होता है कि वह किसी रामदास का शिष्य था। यह गीता का अनुवाद उसने भानुसिंह के आदेश पर किया था। यह भानुसिंह तोमर राजा कीर्तिसिंह का पुत्र था और मानसिंह का अत्यन्त विश्वासपात्र था। ज्ञात यह होता है कि तोमरो मे बडे राजकुमार को ही गद्दी देने की प्रथा नही थी। वीरसिंह तोमर के बाद जिन उद्धरणदेव का राज्य हुआ, वे वीरसिंह के भाई थे। वीरम या विक्रम तोमर उद्धरणदेव के कौन थे, यह ज्ञात नही, परन्तु उनके बाद जो डूगरसिंह गद्दी पर बैठे, वे गणपति तोमर के पुत्र थे। यह गणपति वीरम के कौन थे, यह ज्ञात नही होता। कीर्तिसिंह अवश्य डूगरेन्द्रसिंह के पुत्र थे। कल्याणमल्ल कीर्तिसिंह के कौन थे तथा मानसिंह का कल्याणमल्ल से क्या नाता था, यह भी ज्ञात नही। कीर्तिसिंह के पुत्र ये भानुसिंह मानसिंह के कौन थे, यह थेघनाथ ने नही लिखा, केवल यह लिखा है–'कीरतसिंह नृपति कौ पूत'। परन्तु यह सब विशुद्ध इतिहास का विषय है। यहाँ तो हमारा सम्बन्ध इस बात से है कि इन भानुसिंह ने थेघनाथ से कहा कि इस नाशवान ससार मे केवल कृष्ण की भक्ति ही श्रेयस्कर है, अतएव वह उसे गीता का ज्ञान सुनावे। उसके आदेश के पालन मे थेघनाथ ने यह गीता का अनुवाद किया। इस अनुवाद के कुछ अश को हम अन्त मे परिशिष्ट मे दे रहे है। यह गीता का अक्षरश अनुवाद न होकर भावानुवाद मात्र है।

थेघनाथ और भानुसिंह

मानिक और थेघनाथ की रचनाओ से तोमरों की एक मनोरजक साहित्यिक प्रथा पर प्रकाश पड़ता है जो अन्यत्र कही देखने को नही मिलती। मानिक ने लिखा है —

काव्य-रचना के लिए बीडा

गढ ग्वालीयर थानु अति भलौ। मानुसिंघ तौवरु जा बलौ॥
सघई खेमल बीरा लीयो। मानिक कवि कर जोरे दीयो॥
मोहि सुनावहु कथा अनूप। ज्यो बेताल किए बहुरूप॥

मानसिंह से बीडा लेकर सिंघई खेमल ने आदर के साथ उसे मानिक कवि को दिया। इसी प्रकार थेघनाथ ने लिखा है —

तिहि तम्बोर थैधू कहुँ दयो।
अति हित कर सो पूछत ठयो॥

युद्धो के लिए अथवा सकटपूर्ण कार्यो के सपादनार्थ बीडा देने के प्रसग तो बहुत सुने गये है, परन्तु काव्य-रचना के लिए बीडा या ताम्बूल लेने की प्रथा इन मानसिहकालीन कवियो मे ही मिली है, मानो भारतीय साहित्य की भावी समृद्धि के लिए समर्थ आधार-भूमि प्रस्तुत करने की इच्छा उस काल के इन सास्कृतिक निर्माताओं के हृदय मे युद्धकालीन सकट की तीव्रता के साथ हिलोरे ले रही थी और साहित्य-सृजन के लिए इस प्रकार के बीडे लिये एव दिये जा रहे थे।

कवि एव सगीतज्ञों की मानसभा की झाँकी हमने देख ली। शूरवीर और शिल्पियो का उल्लेख यहाँ अप्रासगिक होगा। यहाँ हम उन विद्वानो का उल्लेख करना उचित समझते है जिनसे उस काल की विचारधारा प्रभावित होती थी।

मानसिह की विद्वत्सभा

ऊपर हम केशवदास के पूर्वज शिरोमणि मिश्र एव हरिनाथ का उल्लेख कर आए है। इनके द्वारा शास्त्रीय पाण्डित्य का प्रसाद ग्वालियर को मिला था। दिल्ली के तोमरो से लेकर अलाउद्दीन खिलजी और उसके बाद ग्वालियर के तोमरो तक यह सनाढ्य परिवार किस प्रकार आया और किस प्रकार यह ग्वालियर से ओड़छा पहुँचा इसका विवरण केशवदास ने कविप्रिया मे दिया है —

दो मिश्र परिवार

ब्रह्मा जू के चित्त ते, प्रगट भये सनकादि।
उपजे तिनके चित्त ते, सब सनौढिया आदि॥
परशुराम भृगुनन्द तब, उत्तम बिप्र विचारि।
दये बहत्तर ग्राम तिन, तिनके पायँ पखारि॥
जग पावन बैकुठपति, रामचन्द्र यह नाम।
मथुरा मण्डल मे दिये, तिन्है सात सौ ग्राम॥

सोमबश यदुकुल-कलस, त्रिभुवन-पाल नरेस।
फेरि दये कलिकाल पुर, तेई तिन्है सुदेस॥
कुम्भवार उद्देसकुल, प्रगटे तिनके बस।
तिनके देवानन्द सुत, उपजे कुल अवतस॥
तिनके सुत जयदेव जग, थापे पृथिवीराज।
तिनके दिनकर सुकुल सुत, प्रगटे पण्डितराज॥
दिल्लीपति अलाउदी, कीन्ही कृपा अपार।
तीरथ गया समेत जिन, अकर करे बहुबार॥
गया गदाधर सुत भये, तिनके आनँदकन्द।
जयानन्द तिनके भये, विद्यायुत जगबन्द॥
भये त्रिविक्रम मिश्र तब, तिनके पण्डितराय।
गोपाचलगढ दुर्गपति तिनके पूजे पाय॥

सतयुग के परशुराम भार्गव अथवा त्रेता के रामचन्द्र ने केशव के पूर्वजो के लिए जो कुछ किया, वह हमारी सीमा के बाहर है। 'सोमबश-यदुकुल-कलस त्रिभुवन पाल' अवश्य दिल्ली के तोमर राजा थे। उनके द्वारा मथुरा-मडल मे सात सौ ग्राम केशव के पूर्वजो को दिये गये थे। पृथ्वीराज चौहान की भी इन पर कृपा रही। जयदेव पडित को चौहान पृथ्वीराज द्वारा वृत्ति मिली। दिनकर पडितराज का मान अलाउद्दीन खिलजी ने भी किया। आखिर त्रिविक्रम मिश्र को डूँगरेन्द्रसिह अथवा कीर्तिसिह तोमर के दरबार में स्थान प्राप्त हुआ। पीछे हम त्रिविक्रम मिश्र से हरिनाथ तक का उद्धरण* दे चुके है। तोमरो के प्रताप के अस्त होने पर आगे—

पुत्र भये हरिनाथ के, कृष्णदत्त शुभ वेष।
सभा शाह सग्राम की, जीती गढी अशेष॥
तिनको वृत्ति पुराण की, दीन्ही राजा रुद्र।
तिनके काशीनाथ सुत, सोभे बुद्धि-समुद्र॥

* पीछे पृष्ठ ९७ देखिए।

जिनको मधुकरसाह नृप, बहुत कर्यो सनमान ।
तिनके सुत बलभद्र सुभ, प्रगटे बुद्धि-निधान ॥
बालहि ते मधुसाह नृप, जिनपै सुनै पुरान ।
तिनके सोदर द्वै भये, केशवदास, कल्यान ॥

इस प्रकार इनका यह परिवार बेतवातीर पर ओड़छा मे पहुँचा। सक्षेप मे यही प्रवाह है हिन्दी के विकास का। मध्यदेश की यह भाषा इसी कालचक्र से इसी मार्ग पर दिल्ली से ग्वालियर होती हुई ओड़छा पहुँच कर पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त हुई।

वीरमित्रोदय और आनन्दघन चम्पू के रचयिता मित्र मिश्र के पूर्वज भी ग्वालियर से ओडछा गये थे, यह उल्लेख हम पहले कर चुके है।

हमने अपनी पुस्तक 'मानसिह और मानकुतूहल' मे यह लिखा था कि मानसिह अपनी राजसभा मे मथुरा के विजयराम मथुरा के चतुर्वेदी को लाए थे। परन्तु वे विजयराम को नही, उनके पूर्वज कल्याणकर को ग्वालियर लाए थे। गोविन्ददास ने अपने वैष्णवप्रपत्तिवैभव मे लिखा है† —

अनाचार आचार युत, साधु असाधहु होई।
अज्ञानी ज्ञानी सुभुवि, मम तनु माथुर जोई ॥
यह लखि लाए मान नृप, मथुरा ते करि प्रीति ।
दियो वासु गिरि उपरि लखि,वेद सुमृत ऋषि नीति ॥
वर्षा ऋतु झरना विविध नृत्यत मत्त मयूर ।
विगत पक रह भूमि जहँ, स्वच्छ शिला बहु पूर ॥
राजत वापी कूप बहु, उपवन शुभ आराम ।
मन्दिर सुन्दर नृप सदृश, षट्ऋतु के विश्राम ॥

---

† यह मूल हस्तलिखित ग्रन्थ इसी विद्वान परिवार के वशज श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' के पास है।

श्री कल्याणकर पुत्र पुनि, श्रीमन कठ सुवेश।
तिनसुत गोवर्धन विदित, पुनि कुलमनि विप्रेश ॥
विजयराम सुत खड्गमान, उत्तम नाम प्रकाश।
विरच्यो आत्म स्वधर्म लखि, वेद सुमृत इतिहास ॥
प्रकृति पुरुष दोउ पर अपर, कही विष्णु की देह।
जाते वैष्णव धर्म बिनु, नही अन्य नर एह ॥
रन्ध्र मिथुन वसु चन्द्र बुध शुक्ल सप्तमी लेष।
श्रावण रवि पूरण भई, गत नक्षत्र विशेष ॥
तुर्य तुर्य वसु चन्द्र कवि, कुम्भकर्ण तम पक्ष।
अनुराधा तिथि सप्तमी, जन्मनाथ मुनि स्वक्ष ॥

जो चतुर्वेदी मानसिह द्वारा ग्वालियर मे लाए गये, उनका एक पुत्र लोदियो से लडता हुआ मारा गया और उनकी पत्नी शकरपुर मे सती हुई तथा अभी भी उस सती का स्थान वहाँ है। अत ये सन् १५०० के पूर्व ग्वालियर आ गये होगे। गोविन्ददास ने यह ग्रन्थ सन् १७६३ मे पूरा किया और उनके और कल्याणकर के बीच चार पीढ़ियाँ इस उद्धरण मे है। मथुरा का यह चतुर्वेदी परिवार मानसिह द्वारा सादर ग्वालियर लाया गया और यहाँ से इटावा चला गया।

मानसिह के पूर्व नयचन्द्रसूरि, यशकीर्त्ति, गुणकीर्त्ति, रइधू, विष्णुदास, त्रिविक्रम मिश्र, पद्मनाभ, तथा मानसिह के समय मे रामदास, थेघनाथ, शिरोमणि मिश्र, हरिनाथ, मित्र मिश्र और गोविन्ददास के पूर्वज तथा अनेक अज्ञात लेखक एक ऐसे युग का निर्माण कर गये हैं जिसका इतिहास हमे यद्यपि आज अत्यन्त अस्पष्ट रूप मे ही ज्ञात है, परन्तु जो हमे आज भी इतना आलोक अवश्य दे रहा है कि हम उस आधार को समझ सके जिसके कारण आगे अनेक शताब्दियों तक हिन्दी का नाम ग्वालियरी भाषा रहा। जायसी,तुलसी और केशव के प्रबन्धकाव्य अचानक उद्भूत परम्परा-रहित रचनाएँ नही हैं, उनके पीछे ग्वालियर की एक-दो शताब्दियों की शब्द-साधना का और स्वयंभू से लेकर तोमरो के

राज्यकाल के अन्त तक की साहित्य-साधना का प्रसाद है। इन प्रबन्ध-काव्यों को पल्लवित और पुष्पित करने वाली सामग्री की खोज कहीं दिल्ली और नर्मदा के बीच अथवा और भी छोटे क्षेत्र चम्बल और बेतवा के बीच की जाने पर ही वास्तविकता हाथ आ सकेगी।

अविच्छिन्न परम्परा

तोमरो के पश्चात भी ग्वालियर ने अविच्छिन्न रूप से हिन्दी के रूप निर्माण और उसकी समृद्धि मे अपना योगदान किया। ग्वालियर और बुन्देलखड सदा अत्यन्त प्रतिभाशाली साहित्यकारो को जन्म देते रहे है। महाकवि केशवदास और बिहारीलाल जैसों की तो बात ही अलग है, वे अपनी ओर बरबस ध्यान खीच ही लेते है। इनके अतिरिक्त भी यहाँ अनेक ऐसे रससिद्ध कवि हुए है जिनके कारण हिन्दी का मस्तक गौरव से ऊँचा हुआ है।

ओडछा तो ग्वालियर के तोमरों के पश्चात् साहित्य का केन्द्र ही बन गया था। वहाँ के राजा मधुकरशाह और छत्रसाल अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के कवि थे और कवियों के आश्रयदाता थे। भूषण को यहाँ पर ही चकित होकर कहना पडा था "शिवा को सराहूं कै सराहूं छत्रसाल को"। महाराज छत्रसाल बुन्देला कभी-कभी पत्रव्यवहार तक कविता मे करते थे।

ओड़छा

अक्षरअनन्य से जब उन्होंने मिलने की इच्छा प्रकट की, तो उस अलमस्त फकीर ने उनसे कुछ शकाओं के उत्तर माँगे। अक्षरअनन्य ने लिखा —

धर्म की टेक तुम्हारे बँधी नृप दूसरि बात कहैं दुख पावत।
टेक न राखत हैं हम काहु की जैसे को तैसो प्रमाण बतावत॥
मानै कोऊ (जु) भली या बुरी नहि आसरो काहू को चित्त मे ल्यावत।
टेक विवेक ते बीच बडो हमको किहि कारण राज बुलावत॥ १॥
जो धरिए हठ टेक उपासन तौ चरचा मै (पुनि) चित्त न दीजे।
जो चरचा मे राखिए चित्त तौ ज्ञान विषे हठ टेक न कीजे॥
जो भरिए उर ज्ञान विचार तौ अक्षर सार क्रिया गुण लीजे।
अक्षर मे क्षर है क्षर है क्षर अक्षर अक्षरातीत कहीजे॥ २॥

प्राणी सबै क्षर रूप कहावत अक्षर ब्रह्म को नाम प्रमानी ।
निंदत स्वप्न सुपुप्ती जागृति ब्रह्म तुरीय दशा ठहरानी ॥
क्यो तिहि मे सुपनो ब्रह्म भासति छत्र नरेश विचक्षरण ज्ञानी ।
अक्षर है कि अनक्षर है हमको लिखि भेजवी एक जबानी ॥ ३ ॥
छत्र नरेश विचित्र महा अरु सगति धामी बडे बडे ज्ञानी ।
आन अखड स्वरूप की राखत भाषत पूरण ब्रह्म अमानी ॥
क्यो शिशुपाल की ज्योति गई उतते फिर कान्ह मे आय समानी ।
खडित है कि अखडित हैं हमको लिखि भेजवी एक जबानी ॥ ४ ॥
नारि ते हेत नही नर रूप नही नर ते पुन नारि बखानी ।
जाति नही पलटै सुपनै मरेहू ते भूत चुरैल बखानी ॥
क्यो सखियाँ निज धाम की राजि भई नर रूप सो जाति हिरानी ।
वेद सही किधो बाद सही हमको लिखि भेजवी एक जबानी ॥ ५ ॥
जाति नही पलटै नर नारि की क्यो सखियाँ नर रूप बखानी ।
जो नर रूप भयो तौ भयो पुरुपोत्तम सो ऋतु कैसे के मानी ॥
जो पुरुषोत्तम सो ऋतु होय तौ इतै कित नारिन के रस सानी ।
यह द्विविधा मे प्रमाण नही हमको लिख भेजवी एक जबानी ॥ ६ ॥

इन शकाओं का समाधान महाराज छत्रसाल ने कविता मे ही किया :—

दूर करहु द्विविधा दिल सो अरु ब्रह्म स्वरूप को रूप बखानो ।
जागृति सुप्ति सुषुप्ति हु के तजि को तुरिया उनको पहिचानो ॥
तीनहू श्रेष्ठ कहे सब वेद सो पूर्व ऋषी हमहू ठहरानो ।
कारण ज्यो भस्मासुर तारण कामिनि सो प्रभु आप दिखानो ॥ १ ॥
वाद भयो पुरुषोत्तम सो अरु नेह बढावन को उर आनी ।
ब्रह्म प्रताप तें यो पलटै तनु ज्यो पलटै सब रग मे पानी ॥
जो नर नारि कहै हमको अजहूँ तिनकी मति जाति हिरानी ।
भूत चुरैल अहैं सब झूठ महा हमसो सुन लीजिए एक जबानी ॥ २ ॥

एक समय पतिनी पति सो हठ पूछी यही निज धाम की बानी ।
कही नही करि देन कही भए सोरहु अश कला के निधानी ।।
इत ते शिशुपाल की ज्योति गई ७त ते फिर कृष्ण मे आनि समानी ।
खडित ऐसे अखडित है हम सो सुनि लीजिए एक जबानी ।। ३ ।।
राखत है हम टेक उपासन बात यथारथ वेद बखानी ।
पीवत हैं चरचा करि अमृत बात विलासन के रस मानी ।।

छत्रसाल का कृष्णभक्ति का रूप दूसरा ही था। वे कृष्णभक्त थे अवश्य, परन्तु उनका दुष्टदलन रूप ही उन्हे अधिक आकर्षित करता था। वे कृष्ण के इसी रूप पर अनुरक्त थे —

तुम धनश्याम जन याचक मयूरगण तुम पयोद स्वाती हम चातक तुम्हारे है।
तुम हौ कृष्णचन्द्र मेरे लोचन चकोर तुम जग तारे हम छतारे कहि उचारे है ।।
मीत मित्र जाके तुम चक्रवाक राखे कर व्रजवसुधा के गोप गोपी जीववारे है।
तुम गिरधारी हम तुम्हारे व्रतधारी तुम दनुज प्रहारे हम यवन प्रहारे है ।।

जब बुन्देलो पर मुगलों ने भयकर आक्रमण किया, तब छत्रसाल ने बाजीराव पेशवा को केवल एक दोहा लिख कर भेजा था —

जो गति ग्राह गजेन्द्र की सो गति भई है आय ।
बाजी जात बुन्देल की राखो बाजी राय ।।

इस दोहे ने क्या काम किया था, यह इतिहास जानता है। बुन्देलो के आश्रय मे जिस विशाल साहित्य का निर्माण हुआ, उसकी विस्तृत सारिणी देना यहाँ अभीष्ट नही। यहाँ केवल गोरेलाल के छत्रप्रकाश

इतिहास-काव्य – गोरेलाल

का उल्लेख हम इस आशय से करते है कि हिन्दी मे इतिहास-लेखन का जो नितान्त अभाव देखते हैं, वे इस ग्रन्थ को देखे और साथ ही केशवदास के ग्रन्थो का श्रद्धापूर्वक मनन करे। इस काल का वास्तविक इतिहास इन बुन्देल कवियों की रचनाओ मे भरा मिलेगा।

ग्वालियर मे भी इसी श्रेणी का एक और इतिहासकार हुआ है। सन् १६८५ मे खड़गसेन सनाढ्य ने ग्वालियरनामा अथवा गोपाचल

आख्यान लिखा था। हमारे वयोवृद्ध मित्र श्री भा० रा० भालेराव इसे प्रकाशित कर रहे हैं। इस ग्रन्थ में खड़गसेन ने ग्वालियर गढ के निर्माणकाल से अपने समकालीन बादशाह शाहजहाँ तक के समय का सुन्दर और प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। आँतरी निवासी गुलाब कवि का करहिया का रायसा*, जोगीदास का दलपतराय रायसा, किसुनेस का सत्रजीत रायसा, श्रीधर का पारीछत रायसा, प्रधान आनन्दसिंह कुडरा का बाघाइट रायसा, कल्याणसिंह कुडरा का झांसी का रायसा†, जदुनाथ का खडेराय रायसा‡ तथा इसी प्रकार के अनेक ग्रन्थ तत्कालीन इतिहास के प्रामाणिक काव्य-ग्रन्थ हैं।

खडगसेन

इस काल मे ग्वालियर और बुन्देलखड अपने इन काव्य और इतिहास ग्रन्थो के अतिरिक्त रीति-ग्रन्थो की रचना में भारत-विख्यात हुआ था। न जाने किस लहर मे आचार्य शुक्ल¶ ने यह लिख दिया "रीति ग्रन्थो का विकास अधिकतर अवध मे हुआ।" आचार्य शुक्ल के विचार मे यह लिखते समय सभवत प्रतापगढ के भिखारीदास अथवा अन्य कोई दो एक कवि रहे होंगे। सवत् १५९८ मे 'हिततरगिनी' लिखने वाले कृपाराम, ओडछे के बलभद्र मिश्र, रसिकप्रिया और कविप्रिया के प्रणेता केशवदास, मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह, ग्वालियर के बिहारीलाल, बूँदी राज्य के

रीति-ग्रन्थ

---

* उपेन्द्रशरण शर्मा करहिया का रायसा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सवत् १९८६, पृष्ठ २७१।

† हरिमोहनलाल श्रीवास्तव बुन्देलखण्डी के वैभव ग्रन्थ, विन्ध्य भारती, मई १९५५, पृष्ठ २१।

‡ यह मूल ग्रन्थ ग्वालियर के सरदार आनन्दराव भाऊ साहब फालके के सग्रह में है।

¶ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६५।

आश्रित मतिराम, छत्रपाल से समादृत भूषण, मम्मट के काव्यप्रकाश के अनुवादक मथुरा के कुलपति मिश्र, इटावा के देव जैसे अनेक महान रीति-कवियो की ओर भी यदि आचार्य का ध्यान होता तो वे यह कथन कदापि न करते।

रस-रीति की शिक्षा मध्यकाल मे कहाँ से ली जाती थी इसके उदाहरण के लिए हम ग्वालियर के महाकविराय सुन्दरदास का उल्लेख करेंगे। ईसवी सन् १६३१ मे सुन्दरकवि ने सुन्दरश्रृंगार लिखा। इसकी अनेक प्रतियाँ उपलब्ध होती है। ई० सन १६७८ मे इसकी माँग माडू मे हुई और वहाँ रामदास और ताराचन्द के पठनार्थ भट्ट यादव ने उसकी प्रति तयार की। करौली के सेवाराम ने भी उसकी प्रतिलिपि की*। परन्तु यह सब मध्यदेश के आस-पास के उदाहरण हैं। सुदूर कच्छ मे इस ग्रन्थ की टीका लिखी गयी†। कच्छ के महाराव लखपत ने मध्यदेश की टकसाली हिन्दी सिखाने के लिए एक विद्यालय खोला था जिसमे मारवाड, गुजरात आदि प्रदेशो से शिक्षार्थी जाते थे। वहाँ रस-रीति के अध्ययन के लिए महाकविराय सुन्दर का सुन्दरश्रृंगार पढाया जाता था। लखपत ने कनककुशल से उसकी टीका भी लिखवाई थी। श्री भा० रा० भालेराव से हमे यह भी ज्ञात हुआ है कि इन्ही लखपत ने केशवदास की रसिकप्रिया की टीका भी करवाई थी जो उनके सग्रह मे है। लखपत का यह कार्य तो यही कहता है कि उसके प्रदेश मे ग्वालियरी हिन्दी—बुन्देलखण्ड की भाषा—ही टकसाली समझी जाती थी और रीति-ग्रन्थों के विकास का भी यही का रूप प्रामाणिक माना जाता था।

सुन्दरदास

कच्छ का लखपत

---

* ये प्रतियाँ लेखक के सग्रह मे है।

† अगरचन्द नाहटा सुन्दरश्रृंगार की भाषा, भारती, अप्रैल १६५५, पृष्ठ ३१२।

इस पुस्तक में प्रसंग भाषा के नाम का है। जैसा हम ऊपर अनेक बार लिख चुके हैं मध्यदेशीय भाषा के लिए प्रयुक्त ब्रजभाषा नाम से उसके रूप का सम्बन्ध नही। उसके रूप का निर्माण ब्रजमडल मे नही हुआ, बुन्देलखण्ड मे हुआ है और उसके विकास मे समस्त भारत ने योग दिया है। ब्रजभाषा इस काव्य-भाषा का केवल रूढ़िगत नाममात्र है। उस नाम के सहारे मध्यदेशीय काव्यभाषा का ब्रज की सीमा की बोली तक अर्थ निकालना केवल भ्रम मे पडना है। हम यहाँ अवध के रीति-ग्रन्थकार भिखारीदास का प्रमाण देना उचित समझते है। इस काव्यभाषा के विषय मे उसने स्पष्ट लिखा है —

काव्यभाषा का रूप

सूर, केसव, मडन, बिहारी कालिदास, ब्रह्म,
चिन्तामणि, मतिराम, भूपन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निरमा,
नीलकठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम रहीम, रसखान, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौ बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजबास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सो जानिए॥

इन सब कवियो के नाम-धाम सर्वविदित है। इनमे से कितने वार्त्ता के ब्रज मे रहे-बसे है, इस पर विचार करने से हमारा निवेदन स्पष्ट हो जाता है। भिखारीदास ने ही इसे और भी स्पष्ट कर दिया है। ब्रजभाषा केवल ब्रजबास तक ही सीमित है ही नही, उसके रूप भी अत्यन्त व्यापक हैं .—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ।
मिलै सस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज, मागधी मिलै अमर नाग यवन भाषानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

यह सब तथ्य हमने बीसवी शताब्दी के पूर्व के ही प्रस्तुत किये हैं। हिन्दी के निर्माण मे इतना बडा योग देने वाला यह प्रदेश केवल एक नाम के भ्रम के कारण अपने प्राप्य गौरव से वचित होगया। महाप्रभु और गुसाई जी महाराज के अभिशाप से अभिशप्त इस प्रदेश की इस देश को इतनी बड़ी देन, मध्यदेश की भाषा – हिन्दी – के निर्माणकार्य को आज के इतिहासज्ञ ने भुला दिया। परन्तु यह बात तो पॉच-छह सौ वर्ष पुरानी है। अभी पन्द्रह-बीस वर्ष मे ही क्या कुछ नही भुलाया गया। क्या आज इस बात पर कोई एकाएक विश्वास करेगा कि भारत के सविधान मे प्रतिष्ठित 'राजभाषा' हिन्दी का रूप-निर्माण भी इसी गोपाचल की छाया मे हुआ है? परन्तु यह है सत्य कि सविधान की हिन्दी बीसवी शताब्दी की ग्वालियरी हिन्दी है। 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग यहॉ जानबूझ कर किया गया है। लोक-भाषा के रूप मे तो उसका निर्माण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही हो रहा था, अथवा और भी पहले दक्खिन मे हो चला था, परन्तु राजनियमो और शासनतत्र मे व्यवहृत राजभाषा के रूप की चर्चा ही यहॉ अभिप्रेत है। सन् १६४० ई० मे जब हिन्दी के भारत की स्वीकृत राष्ट्रभाषा बनने की कल्पना एक सुदूर स्वप्न मात्र थी, तब गोपाद्रि की छाया मे बैठ कर पैतीस लाख जनसमूह पर प्रभाव डालने वाले राजनियम इस प्रकार की भाषा मे लिखे जा रहे थे* —

सविधान की हिन्दी

"७ किसी प्रस्ताव को वचन मे परिणत करने के लिए यह अनिवार्य होगा कि स्वीकृति—

स्वीकृति पूर्ण होना चाहिए

(१) पूर्ण और निरपेक्ष हो।

(२) किसी साधारण तथा यथोचित रीति से व्यक्त की जाय, जब

* ग्वालियर राज्य के अनुबन्ध विधान की धाराएँ।

तक कि प्रस्ताव मे स्वीकार करने की कोई रीति नियत न कर दी गयी हो। यदि प्रस्ताव मे ऐसी रीति नियत कर दी गयी हो जिसके अनुसार वह स्वीकार की जाय और स्वीकृति ऐसी रीति के अनुसार न दी जाय तो प्रस्ताव करने वाले को अधिकार होगा कि स्वीकृति का सवहन हो जाने के पश्चात वह यथोचित समय के भीतर यह आग्रह करे कि उसका प्रस्ताव नियत रीति के अनुसार ही स्वीकार किया जाय और किसी रूप मे नहीं, परन्तु यदि ऐसा करने मे असफल रहे तो वह स्वीकृति को स्वीकार करता है।"

प्रतिबन्धो का निष्पादन करने अथवा प्रतिफल पाने से स्वीकृति

"८ किसी प्रस्ताव के प्रतिबन्धो का निष्पादन अथवा किसी ऐसे पारस्परिक वचन के विषय मे जो किसी प्रस्ताव के साथ दिया जाय, किसी प्रतिफल को स्वीकृति, उस प्रस्ताव की स्वीकृति होती है।"

सन् १९४१ मे यह भाषा ग्वालियर राज्य के भूतपूर्व नरेश के मुख से इस रूप मे नि मृत कराई गयी थी* —

"उच्चतम आशय से प्रेरित होकर तथा अत्यन्त उदात्त आदर्शो से अनुप्राणित होकर हमने शासन सुधार मे एक ऐसी नीति को प्रारम्भ किया है जो हमारे राज्य के नवनिर्मित क्षेत्र मे बोए हुए प्रतिनिधि सस्थाओ के बीज को अकुरित और पोषित करने मे समर्थ हो। अपने राजवश की परम्परागत नीति मे अचल श्रद्धा के सहित हम एक बार पुन घोषित करते है कि हमारा राज्यप्रबन्ध हमारी प्रजा की विकासशील राजनीतिक चेतना का प्रतिव्यजक हो और एक समय आवे जब हमारी प्रजा अपने आर्थिक एव राजनीतिक उत्कर्ष के अनुसार, शातिपूर्ण तथा वैधानिक उपायो द्वारा प्राकृतिक और सजीव वृद्धि की स्वस्थ रीति से अपनी वैध आकाक्षाओ का प्रगतिशील सम्पादन करे।

---

* विजयादशमी ३० सितम्बर, १९४१ की ग्वालियर नरेश की उद्घोषणा, उसी दिन के शासन-आज्ञा-पत्र मे प्रकाशित।

"हम यथार्थ रूप मे यह आशा एव विश्वास करते है कि वह भावना, जिससे प्रेरित होकर हमने अपनी प्रजा को यथाविधि निर्मित व्यवस्थापक मडल की सभाओ मे जनमत का प्रतिनिधित्व करने का निर्बाध अवसर देकर तथा अपनी प्रजा को मताधिकार प्रदान करके राज्यप्रबन्ध के कार्य से सम्बद्ध करने का पदक्षेप किया है, हमारी प्रजा द्वारा सर्वत्र समादृत होगी और यह राज्यव्यवस्था ऐसी भावना के साथ कार्यान्वित की जायगी जो हमारी स्वेच्छा से तथा स्वय ही किये गये पदक्षेप का प्रतिपादन करे।

"अन्त मे, हम हार्दिक आशा और प्रार्थना करते है कि हमारी प्रजा के सर्वतोमुखी उत्थान के हेतु आज जो एक बृहत्तर भविष्य की आधार-शिला स्थापित की जारही है वह चिरस्थायी एव शाश्वत हो तथा वह राज्य व्यवस्था के एक ऐसे भव्य भवन को अवलम्बन दे सके जो इस राज्य और इसकी प्रजा के अनुकूल हो।"

जैसा हमने ऊपर लिखा है, ग्वालियर पर गुसाई जी का अभिशाप ज्ञात होता है और वह आज भी बदस्तूर चल रहा है*। जिस बीसवी शताब्दी की 'ग्वालियरी हिन्दी' की सराहना आगरा साहित्य सम्मेलन मे श्री पुरुषोत्तमदास टडन ने प्रस्ताव रख कर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण के समर्थन से की थी, उसे देश ने पन्द्रह वर्ष के अल्प समय मे बिल्कुल भुला दिया। फिर पॉच-छह सौ वर्ष पहले प्रारभ हुआ 'ग्वालियरी भाषा' नाम और उसकी पृष्ठभूमि यदि विस्मृत होगयी तब आश्चर्य ही क्या है।

---

* हमे प्रसन्नता यही है कि अब श्री चन्द्रवली पाडे (अनुरागबासुरी और केशवदास मे), श्री अगरचन्द नाहटा (भारती, मार्च १६५५ मे) तथा श्री राहुल साकृत्यायन (भारती, अगस्त १६५५ तथा हिन्दुस्तान साप्ताहिक, ६ अक्टूबर १६५५ मे) 'ग्वालियरी भाषा' नाम का स्मरण दिलाने लगे है। इन मनीषियो के मत्र से यह अभिशाप झड सके तो अहोभाग्य!

उपसंहार

मध्यकालीन हिंदी को नाम कुछ दे लीजिए, उसे ग्वालियरी भाषा कह लीजिए चाहे ब्रजभाषा, परन्तु यदि ऐतिहासिक परम्पराओ को विस्मृत कर दिया जाय तब बडे बडे विचित्र परिणाम दिखलाई देते है। हमारा विश्वास है कि पिछले पृष्ठो को पढ़ने के पश्चात इस बात से कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति सहमत हो सकेगा कि मध्यदेश ने मध्यकालीन हिन्दी को जन्म दिया, सोलहवी शताब्दी के पहले आज के बुन्देलखण्ड और ग्वालियर ने उसे परिष्कृत काव्यभाषा का रूप दिया, वह अनेक शताब्दियो तक ग्वालियरी भाषा नाम लिये रही, बिना राई-रत्ती रूपभेद किये इसी भाषा को कभी ब्रजभाषा संज्ञा दी गयी और ब्रजमडल से सीमित बोली के रूप मे उसे कभी काव्यभाषा स्वीकार नही किया गया, साथ ही यह भी कि उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व किसी सास्कृतिक विकास का विवेचन मध्य-देश का समग्र रूप मस्तिष्क मे रखे बिना नही किया जा सकता। जहाँ उसके बुन्देलखण्ड, कन्नौज, मारवाड़, मालवा आदि टुकडे किये वहाँ जो हाथ आएगा वह बोलियो का विवेचन होगा, किसी परिनिष्ठित काव्यभाषा का विवेचन वह हो नही सकता।

अभी तक के प्राप्त निष्कर्ष

इसका एक ज्वलन्त उदाहरण डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ 'ब्रजभाषा' है। यह ग्रन्थ सन् १९३५ मे पेरिस विश्वविद्यालय के लिए थीसिस के रूप मे लिखा गया था और अब सन् १९५४ मे हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमे ब्रजभाषा के क्षेत्र के मानचित्र मे से ग्वालियर और बुन्देलखण्ड निकाल दिये गये है। निश्चित ही डॉ० वर्मा किसी बोली का अध्ययन नहीं कर रहे थे क्योकि उन्होने ब्रजभाषा के उदाहरणों के लिए केशवदास, नाभादास, बिहारी, भूषण, मतिराम,

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की स्थापनाएँ

गोरेलाल, भिखारीदास आदि को भी चुना है। इन कवियो ने किसी बोली मे रचनाएँ नही लिखी। इससे स्पष्ट है कि उनका यह 'ब्रजभाषा' ग्रन्थ मध्यकाल की परिनिष्ठित काव्य-भाषा का विवेचन है। परन्तु इस काव्य-भाषा के विकास का इतिहास, मध्यदेश की परम्परा और उसके रूप को भुला देने के कारण इस ग्रन्थ मे कुछ अद्भुत रूप मे सामने आया है। ग्वालियर सहित बुन्देलखण्ड तो इस काव्यभाषा के क्षेत्र से बाहर निकाल ही दिया गया, डॉ० वर्मा ने कन्नौजी बोली को ब्रजभाषा का अग मान लिया तथा बुन्देली को 'ब्रजभाषा' की दक्षिणी उपबोली के रूप मे ग्रहण किया। वे लिखते है, "हिन्दी बोलियो मे बुन्देली ही ब्रज के सबसे निकट है। वास्तव मे बुन्देली को ब्रज का दक्षिणी रूप कहा जा सकता है। दोनों मे अन्तर शब्द-रचना की अपेक्षा ध्वनियो मे अधिक है। वास्तव मे बुन्देली को हिन्दी की अलग बोली न मान कर ब्रज की दक्षिणी उपबोली कहा जा सकता है*।" निश्चय ही यह उक्ति उस काव्यभाषा के विषय मे नहीं हो सकती, जिसमे ऊपर लिखे कवियो ने रचना की है, यह किसी 'बोली' का विवेचन भले ही हो।

उनकी उलटी गगा

एक अन्य स्थल पर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, "मध्यकाल मे बुन्देलखण्ड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है,किन्तु यहाँ होने वाले कवियो ने ब्रजभाषा ही मे कविता की है, यद्यपि, इनकी भाषा पर बुन्देली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुन्देली बोली और ब्रजभाषा मे बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज, कन्नौजी, तथा बुन्देली एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं†।" आगे फिर लिखा गया है, "सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी मे प्राय. हिन्दी साहित्य ब्रजभाषा मे लिखा गया। ब्रजभाषा का रूप दिन दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा सुसस्कृत होता चला

---

* डा० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ १२९।

† डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ ६४।

गया है। बिहारी और सूरदास की भाषा मे बहुत भेद है। बुन्देलखण्ड तथा राजस्थान के देशी राज्यो के सम्पर्क मे आने के कारण इस काल के बहुत से कवियो की भाषा मे जहाँ तहाँ बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियो का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिए केशवदास (१६०० ई०) की 'ब्रजभाषा' मे बुन्देली प्रयोग बहुत मिलते है*।" ये कथन इतिहास-सम्मत कदापि नही है, न किसी शास्त्रीय पुस्तक मे स्थान पाने योग्य है।

हम पहले लिख आए हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि मे भाषा और बोली का भेद अधिक स्पष्ट था, इसी कारण उनके द्वारा सत्यनारायण कविरत्न† के नाटकों मे मथुरा-गोकुल के स्थानीय शब्दों के प्रयोगो की भर्त्सना की गयी है। यद्यपि उनके द्वारा खुसरो और कबीर की भाषा मे 'ब्रजभाषा' के दर्शन किये गये, तथा उन्होंने लिखा, "पश्चिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों मे गीतो की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आसपास के गीत ब्रजभाषा ही मे गाए जाते थे, यह अमीर खुसरो (सवत् १३४०) के गीतो मे दिखा आए हैं। कबीर (संवत् १४५६) के प्रसग मे कहा जा चुका है कि उनकी भाषा तो सधुक्कड़ी है, पर पदों की भाषा काव्य मे प्रचलित ब्रजभाषा ही है‡।" परन्तु यह केवल नामभेद है, रूपभेद आचार्य शुक्ल के सामने स्पष्ट था। नाम की चकाचौध मे प्रसिद्ध विद्वान श्री किशोरीदास वाजपेयी भी कुछ ऐसा ही कथन कर गये। वे लिखते हैं¶ "वर्तमान मथुरा जिले में और उसके चारों ओर दूर दूर तक ब्रजभाषा का राज्य है। उधर अलीगढ़, बदायू, मैनपुरी आदि के जिले और इसी प्रकार चारों ओर इस

प० रामचन्द्र शुक्ल और श्री किशोरीदास वाजपेयी की स्थापनाएँ

---

* डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा, पृष्ठ ८१]।

† पीछे पृष्ठ १२३ देखिए।

‡ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८८।

¶ किशोरीदास वाजपेयी . ब्रजभाषा का व्याकरण, पृष्ठ ८३।

भाषा ने अपना कब्जा कर रखा है। परन्तु विशुद्ध ब्रजभाषा मथुरा और उसके ओर पास के जिलों ही मे समझी जाती है।"इस उद्धरण की पहली स्थापना तो काव्य-भाषा के नाम के भ्रम तक ही सीमित थी, परन्तु जहॉ यह शुद्धि का प्रश्न आया, वहीं झमेला प्रारंभ हुआ। वाजपेयी जी का सकल्प तो वह था जो हम पहले उद्धृत कर चुके है* जहॉ उन्होंने कहा है कि ब्रजभाषा से उनका तात्पर्य किसी स्थान विशेष की बोली से न होकर व्यापक काव्य-भाषा से है, परन्तु नाम का महात्म्य बडा है। उनके द्वारा ही लिखा गया, "अवधी और ब्रज-भाषा के अतिरिक्त हिन्दी की किसी दूसरी 'बोली' मे कोई वैसा साहित्य नहीं है। थोडा बहुत बुन्देलखण्डी मे अवश्य है, जिसको ब्रजभाषा का ही एक रूप समझा जाता है†।" अथवा "बुन्देलखण्डी, अवधी तथा मेरठी आदि बोलियो का प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक ब्रज-भाषा पर पड़ा है, विशेषत. बुन्देलखण्डी का‡।"

हमारा आशय इन महान विद्वानों के पाण्डित्य में किसी भी प्रकार की शका करने का नहीं है। हम तो हिन्दी भाषा और साहित्य के इन इतिहास-लेखकों को दुष्यन्त की राजसभा मे किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ी अभिशप्त शकुन्तला की भॉति, इनके दरबार मे विस्मृत और विद्रूप मध्यदेश और उसकी भाषा के विकास की परम्परा और साहित्य-साधना का स्मरण मात्र करा देना चाहते हैं। एक शताब्दी से खोई हुई इस मिलन-मुद्रिका के दर्शन से वह सब इतिहास याद आ सके, यही हमारा आशय है। लल्लूलाल जी ने 'राजनीति' मे जो नाम इस काव्यभाषा को दिया वह ग्रियर्सन साहब ने ग्रहण किया और वही आगे हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास-विवेचकों द्वारा पकड़ लिया गया। मध्यकालीन हिन्दी की

काव्यभाषा की परख

---

* पीछे पृष्ठ ८८ देखिए।

† किशोरीदास वाजपेयी ब्रजभाषा का व्याकरण, पृष्ठ १४।

‡ वही, पृष्ठ ८८।

प्रशस्त काव्यभाषा को राजस्थानी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, कन्नौजी, अवधी, मालवी आदि के सकुचित रूप दे दिये गये। भारत मे बोली बारह कोस पर बदलती है, ऐसी जनश्रुति है। बुन्देलखण्डी भी दतिया, ओडछा, टीकमगढ, सागर, भेलसा मे कुछ न कुछ विभेद लिये ही है। यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति की बोली अपनी विशिष्टता लिये रहती है। जिन्हे इन बारीकियो की खोज का शौक है वे उनके निरूपण के लिए स्वतत्र है, परन्तु मध्यकाल की काव्य-भाषा की नापतौल बोलियो के आधार पर नही की जा सकती। वह ग्रियर्सन साहब अथवा उनके अनुकरण करने वालो के इन विभेदो को नही मानती। इन पैमानो से मध्यकालीन कवियो की काव्यभाषा नही परखी जा सकती। उसके कारण तो विभ्रम ही उत्पन्न होता है।

हिन्दी को 'ग्वालियरी भाषा' नाम कुछ शताब्दियो तक एक स्थान-विशेष के सास्कृतिक केन्द्र बनने के कारण प्राप्त हुआ था। वह कारण न रहा, तब इस नाम का अधिकार भी कम हो गया। साम्प्रदायिक आग्रह और अग्रेज भाषाविदो की कृपा से ब्रजभाषा नाम चला दिया गया। नाम तो अनेक बने और बिगडे है, रूप भी बनते और बदलते है, परन्तु जब भाषा और साहित्य के विकास की खोजबीन होती है तब तथ्यो और सत्यों को भुला देने से सही परिणाम पर नही पहुँचा जा सकता। फिर तो केशव, सूर, तुलसी की भाषा मे बुन्देलखण्डी प्रयोग दिखने लगते है, अमीर खुसरो, कबीर, नरपति, चदवरदायी आदि की भाषा मे ब्रजभाषा, अवधी और बुन्देलखण्डी रूप देखे जाते है, बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा दो पृथक पृथक बोलियाँ (या काव्य-भाषाएँ?) मानी जाती है तथा बुन्देलखण्डी को ब्रजभाषा की उपभाषा लिखा जाता है, सत्रहवीं-अठारहवी शताब्दी मे मध्यदेश के एक कोने मे जो नामकरण हुआ उसके स्थानीय मान से समस्त मध्यदेश की भाषा की परख की जाती है, बिना यह ध्यान दिये कि कब कौनसा रूप काव्यभाषा के लिए मान्य समझा जाता था। 'ग्वालियरी भाषा' नाम पुन. प्रचलित करने की

कल्पना तो किसी सही मस्तिष्क मे उत्पन्न नही हो सकती, आग्रह केवल यह है कि मध्यकालीन हिन्दी को कभी ग्वालियरी भाषा कहा जाता था और वही से, बुन्देलखण्ड से, उसके मध्यकालीन काव्यभाषा के रूप का निर्माण हुआ, वह छोटे से ब्रजमडल मे प्रयुक्त शब्दावली तथा व्याकरण से सीमित नही थी, यह स्वीकार कर लिया जाय और यह मान लिया जाय कि ब्रजभाषा नाम की यदि कोई भाषा या बोली है तो वह इस मध्यदेशीय भाषा की उपबोली है, उस मध्यदेशीय भाषा की जिसका निर्माण ग्वालियर अर्थात बुन्देलखण्ड मे हुआ, इसलिए नही कि (जैसा श्री राहुल जी ने लिखा है*) आज के बुन्देले कोई बात पसन्द या नापसन्द करते है, वरन इसलिए कि इतिहास यह कहता है, तथ्य यह कहते है और सत्य भी यही है।

वास्तव मे पन्द्रहवी शताब्दी तक इस नवीन भारतव्यापी काव्यभाषा के निर्माण का प्रथम चरण था। वह अगली शताब्दियो मे अत्यन्त पुष्ट हुई। अफगान सुल्तानो और मुगलो द्वारा उसके सार्वदेशिक विकास मे पहली बार बाधा डाली गयी थी, अतएव गुजराती, मराठी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाएँ उससे दूर जा पडी। अग्रेजो ने उसके क्षेत्र मे ही उसके सैकडों रूपो के दर्शन हमे करा दिये और अधे की लाठी पकड कर हमने बुन्देलखडी, भितरवारी, तवरघारी, भदावरी, ब्रज, अवधी, कन्नौजी, राजस्थानी, मालवी, मेवाती आदि अनेक नाम सीख लिये। स्थानीय और व्यक्तिगत विभेदो की ओर देखा जाय तब तो भारत मे करोडो बोलियाँ बन सकती है, परिभाषित होकर अध्ययन का विषय भी बनायी जा सकती है, परन्तु काव्यभाषा तो मध्यकाल मे एक ही थी। कुछ समय तक हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का झगडा हम देख चुके है, उसमे से हिन्दुस्तानी तो समाप्त हो गयी और उर्दू पराई हो गयी। जनपदो की बोलियो के रूप जनपदो तक अथवा उनकी बारीक खोजबीन करने वालो तक ही सीमित रहने चाहिए। मुद्रण की सुविधा के इस युग मे, स्वतत्र भारत मे,

---

* पीछे पृष्ठ ४ देखिये।

सम्प्रदाय और राजनीति हिन्दी के रूप को अब संकुचित नहीं कर सकते। मध्यदेश की भाषा का एक रूप, उसे मेरठ की बोली कह लीजिए, चाहे गूजर-आभीरों की वाणी कह लीजिए और चाहे हिन्दी कह लीजिए, और अगर कष्ट न हो तो वजही के साथ उसे ग्वालियर के चातुरों की वाणी कह लीजिए, अब राष्ट्रव्यापी रूप ग्रहण कर चुकी है। रहा इतिहास, सो वह आज नही तो कल, कभी न कभी शुद्ध दृष्टि और बुद्धि से लिखा ही जायगा, और वह जब भी सही रूप में लिखा जायगा तभी ग्वालियर के तोमर और उनके समय के 'ग्वालियर के चतुर' हिन्दी भाषियो से अपने ऋण का परिशोध — एहसान के दो बोल — पाने के अधिकारी हो जायेंगे। अभी तो हम केवल यही दुहराए देते है कि नाम बदलते है, इसकी कोई चिन्ता नहीं, परन्तु इतिहास और परम्पराएँ भुलादी जाएँ, वे भी इतिहास के ग्रन्थो मे, यह चिन्तनीय अवश्य है। इस विवेचन से यदि हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास को सही दिशा मिल सके तो उचित होगा, वैसे तो रूढियाँ, चाहे वे गलत ही पड़ जायँ, देर से मरती है।

परिशिष्ट

१

गोस्वामी विष्णुदास

(सन् १४३५ ई०)

महाभारत कथा

विनसै धर्म किये पाखडू, विनसै नारि गेह परचडू।
विनसै राडु पढाये पाडे, विनसै खेलै ज्वारी डाँडे ॥१॥
विनसै नीच तनै उपजारू, विनिसै सूत पुराने हारू।
विनसै माँगनौ जरै जु लाजै, विनसै जूझ होय विन साजै ॥२॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई विनसै घर होतै रन धरमी।
विनसै राजा मन्त्र जु हीनू, विनसै नटकु कला विनु हीनू ॥३॥
विनसै मन्दिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिषि पढाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई ॥४॥
विनसै अति गति कीनै व्याहू, विनसै अति लोभी नर नाहू।
विनसै घृत हीनें जु अगारू, विनसै मन्दौ चरै जटारू ॥५॥
विनसै सोनू लोह चढाये, विनसै सेव करै अनभाये।
विनसै तिरिया पुरिष उदासी, विनसै मनहि हँसे विन हाँसी ॥६॥
विनसै रूख जो नदी किनारै, विनसै घरु जु चलै अनुसारे।
विनसै खेती आरसु कीजै, विनसै पुस्तक पानी भीजै ॥७॥
विनसै करनु कहै जे कामू, विनसै लोभ ब्यौहेरै दाम्।
विनसै देह जो राचै वेस्या, विनसै नेह मित्र परदेसा ॥८॥
विनसै पोखर जामें काई, विनसै बूढौ व्याहे नई।
विनसै कन्या हर-हर हसयी, विनसै सुन्दरि पर घर बसयी ॥९॥
विनसै विप्र विन षट कर्मा, विनसै चोर प्रजा सै मर्मा।
विनसै पुत्र जो बाप लडाये, विनसै सेवक करि मन भाये ॥१०॥
विनसै यज्ञ क्रोध जिहि कीजै, विनसै दान सेव करि दीजै।
इतौ कपटु काहे को कीजै, जौ पडो वनवास न दीजै ॥११॥

अहकार तै होई अकाजू, ऐसै जाय तुम्हारो राजू।
हीनि कीनिहूँ है दिन मारी, जम दीसै नर वदन पसारी ॥१२॥

× × ×

किरपा कान्ह भयो आनद, जो पोषन समर्थ गोव्यद।
हरि हर करत पाप सब गयो, अमरपुरी पाप सब गयो ॥२६४॥
अविचल चौक जु उत्तिम थान, निश्चल वास पाडवन जान।
यकादशी सहस्र जो करै, अस्वमेध यज्ञ उच्चरै ॥२६५॥
तीरथ सकल करै अस्नाना, पडौ चरित सुनै दै काना।
वरिष दिवस हरिवस पुरान, गऊ कोटि विप्रन कहँ दान ॥२६६॥
जो फल मकर माघ स्नाना, जो फल पाडव सुनत पुराना।
गया क्षेत्र पिंड जो भरै, सूर्य पर्व गगाजी करै ॥२६७॥
पडौ चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै।
एक चित्त सुनै दै कान, ते पावे अमरापुर थान ॥२६८॥
पडौ कथा सुनै दै दानु, तिनकौ होय प्रयागै थानु।
स्वर्गारोहण मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै ॥२६९॥
रामकृष्ण लेखक को लिखी, बाँचै सुणै सो होसी सुखी।
श्री वल्लभ राम नाम गुण गाई, तिनके भक्ति सुदृढ ठहराई ॥३००॥*

---

* पिनाहट, जिला आगरा के श्री चौबे श्रीकृष्ण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९--३१, पृष्ठ ६५३-६५४)

रुक्मिणी मंगल

दोहा

रिधि-सिधि सुख सकल विधि नवनिधि दे गुरुज्ञान ।
गति मति सुति पति पाईयत गनपति को धर ध्यान ॥१॥
जाके चरन प्रताप ते दुख मुख परत न डिठ ।
ता गज मुख सुख करन की सरन आवरे डिठ ॥२॥

पद

प्रथम ही गुरु के चरण वधत गौरी पुत्र मनाइये ।
आदि है विष्णु जुगाद है ब्रह्मा सकर ध्यान लगाइये ।
देवी पूजन कर वर मागत बुध औ ज्ञान दिवाइये ।
ताते अति सुख होय अबे आनद मगल गाइए ।
गोरा लक्ष्मी स्वुरुहा सरस्वति तिनको सीस नवाइए ।
चद्र सूर्य दोऊ गगा जमुना तिनको ते अति सुख पाइए ।
सत महत की पग रज ले मस्तक तिलक चढाइए ।
विष्णुदास प्रभु प्रिया प्रीतम को रुकमनी मगल बनाइए ।

राग गौरी

गुण गाऊँ गोपाल के चरण कमल चितलाय ।
मन इच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय ।
भीषम नृप की लाडली कृष्ण ब्रह्म अवतार ।
जिनकी अस्तुति कहत हौ सुन लीजै नर नार ।

पद

तुछ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई ।
रोम रोम रसना जो पाऊँ महिमा वर्ण नहिं जाई ।

सुर नर मुनि जन ध्यान धरत है गति किनहूँ नहिं पाई ।
लीला अपरपार प्रभू की को करि सकै बडाई ।
वित्त समान गुण गाऊ स्याम के कृपा करी जादोराई ।
जो कोई सरन पडे है रावरे कीरति जग मे छाई ।
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी से प्रीति लगाई ।

× × ×

रागनी पूर्वी दोहा

विदा होय घनस्याम जू तिलक करै कुल नारि ।
तात मात रुकमन मिली अँखियन आँसू डारि ।
मोहन रुकमिन ले चले पहुँचे द्वारका जाय ।
मोतियन चौक पुराय के कियो आरती माय ।
आज वधाई वाजे माई वसुदेव के दरबार ।
मनमोहन प्रभु व्याह कर आए पुरी द्वारका राजै ।
अति आनद भयो है नगर मे घर घर मगल गाई ।
अगन तन मे भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज ।
वाजे वाजत कानन सुनियत नौवत घन ज्यूँ वाज ।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजे दुख भाज ।
नाचत गावत मृदग वाज रग वसावत आज ।
विष्णुदास प्रभु की ऊपर कोटिक मन्मथ लाज ।

रागिनी धनासिरी दोहा

पूजत देवी अविका पूजत और गणेश ।
चद्र सूर्य दोऊ पूज के पूजन करत महेश ।
कुल की सति अनु जाइके वहुत करी अन सेव ।
मोहत छडियन खेल के और पूजी कुल देव ।

पद

मोहन महलन करत विलास ।
कनक मदिर मे केलि करत हैं और कोऊ नहि पास ।
रुकमिन चरन सिरावै पिय के पूजी मन की आस ।
जो चाहो सो अबे पावो हरि पत देवकी साथ ।
तुम बिन और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास ।
निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास ।
घट घट व्यापक अतर जामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास ।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दास* ।

विष्णुपद†

मेहलन मोहन करत विलास ।
कहाँ मोहन कहाँ रमन रानी और कोऊ नहि पास ॥
रुकमन चरन सिरावत पिय के पूजी मन की आस ।
जो चाहै थिसो अब पायो हरि पति देवकी सास ॥
तुम विन और कौन थो मेरो धरन पताल अकास ।
पल सुमरन करत तिहारो सनि पूस पर गास ॥
घट घट व्यापक अतरजामी सब सुखरासी ।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दासी ॥

---

* गडवापुर, जिला सीतापुर के प० गणपतलाल दूबे की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२६-२८, पृष्ठ ७५९-७६०) ।

† वृन्दावन के गोस्वामी राधाचरण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९१२-१९१४, पृष्ठ २४७) ।

स्वर्गारोहण

दोहरा

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक बरदान ।
स्वर्गारोहण ग्रथ की वरणौ तत्व बखान ।।

चौपाई

गणपति सुमति देह आचारा । सुमिरत सिद्धि सो होइ अपारा ।
भारत भाषौ तोहि पसाई । अरु शारद के लागौ पाई ।।
अरु जो सहज नाथ वर लहहूँ । स्वर्गारोहण विस्तार कहहूँ ।
विष्णुदास कवि विनय कराई । देहु बुद्धि जो कथा कहाई ।।
रात दिवस जो भारथ सुनई । नाषै पाप विष्णु कबि भनई ।
यो पाडव गरि गये हेवारे । कही कथा गुरु वचन विचारै ।
दल कुरुखेतहि भारत कियो । कौरव मारि राज सब लियो ।।
जदुकुल मे भये धर्म नरेशा । गयो द्वापर कलि भयो प्रवेशा ।
सुनहु भीम कह धर्म नरेशा । वार वार सुणि लै उपदेशा ।।
अब यह राज तात तुम लेहू । कै भैया अर्जुन कह देऊ ।
राज सकल अरु यह ससारा । मै छाडौ यह कहै भुवारा ।।
बन्धु चार ते लये बुलाई । तिनसो कही बात यह राई ।
सै लै भूमि भुगतु वरबीरा । काहे दुर्लभ होउ सरीरा ।।
ठाढे भये ते चारो भाई । भीमसेन बोले शिरनाई ।
कर जुग जोरे विनई सेवा । गयो द्वापर कलि आयो देवा ।।
सात दिवस मोहि जूझत गयऊ । टूटी गदा खड द्वै भयऊ ।
हागे जुद्ध न जीतो जाई । कलि जुग देव रह्यो ठहराई ।।
इतने वचन सुने नरनाथा । पाचौ बधु चले इक साथा ।
नगर लोग राखे समुझाई । मानत कह्यो न काहु की राई ।।

× × ×

वैताल पच्चीसी

चौपही

सिर सिंदूर वरन मैमत । विकट दन्त कर फरसु गहन्त ॥
गज अनन्त नेत्रर झकार । मुकट चन्दु अहि सोहे हार ॥
नाचत जाहि धरनि धसमसे । तो सुमिरन्त कवितु हुलसे ॥
सुर तेतीस मनावे तोहि । 'मानिक' भनै बुद्धि दे मोहि ॥
पुनि सारदा चरन अनुसरो । जा प्रसाद कवित्त उच्चरो ॥
हंस रूप ग्रथ जा पानि । ताकौ रूप न सकौ बखानि ॥
ताकी महिमा जाइ न कही । फुरि फुरि माइ कद भा रही ॥
तो पसाइ यह कवितु सिराइ । सा सुवरनो विक्रम राइ ॥

× × ×

सुनै कथा नर पातग हरे । ज्यो वैताल बुद्धि बहु करे ॥
विक्रम राजा साहस करे । कह 'मानिक' ज्यो जोगी मरे ॥
सवत पन्द्रह सै तिहिकाल । ग्रोरु वरस ग्रागरी छियाल ॥
निर्मल पाख ग्रागहनु मास । हिमरितु कुम्भ चन्द्र को वास ॥
ग्राठे द्योसु वार तिहि भानु । कवि भाषै वैताल पुरानु ॥
गढ ग्वालीयर थानु ग्रति भलौ । मानुसिंघ तौंवरु जा बलौ ॥
सघई खेमल वीरा लीयो । 'मानिक' कवि कर जोरे दीयो ॥
मोहि सुनावहु कथा अनूप । ज्यो वैताल किये बहु रूप ॥

× × ×

काइथ जाति अजुध्या वासु । अमऊ नाऊ कविन को दासु ॥
कथा पचीस कही वैताल । पोहोचो जाइ भीव के पताल ॥

ताके वस पाँचइ॰ साख । आदि कथनु सो मानिक भाखि ॥
ता 'मानिक' सुत सुत को नदु । कविता वन्त गुननि को वदु ॥
जैसे भाटु छल्यो पाताल । ज्यो माँग्यो विक्रम भुवाल ॥
जैहि विधि चित्ररेख वस करी । ओरु आपनी आपदा हरी ॥

× × ×

मति ओछी/अरु थोरो ग्यान । करी बुद्धि अपने उनमानु ॥
अछर कटे होइ तुक भग । समझो जाइ अर्थ को अग ॥
जहाँ जहाँ॰ अनमिली बात । तह चौकस कीजो तात ॥

× × ×

जो पढि है वैताल पुरानु । ओरु सत सुनि देहै कान ॥
तिनि के पुत्र होहि धन रिधि । ओरु सहश्र जिती सव सिधि ॥
कर जोरे भाषे सावन्तु । ज जै कृश्नु (?) सत को तत ॥
विक्रम कथा सुने चित कोइ । कायरु सो नर कबहू न होइ ॥
रात साहसु पुरषारथ धरे । जो यह कथा चित्त अनुसरे ॥
सो पण्डित कवि होइ अपार । वानी बुद्धि होइ विस्तार ॥*

* कोसीकला, जिला मथुरा के पं० रामनारायण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९३२-३४, पृ० २४०-२४१)।

३

थेघनाथ

(सन् १५०० ई०)

कचन पुरी सु उत्तम ठाऊँ। तहाँ बसै पाडव को राऊ।
एकादशि व्रत यो मन धरई। अरु जो अश्वमेध पुनि करिई ।।
तीरथ सकल करे अस्नाना। सो फल पाडव सुनत पुराना।
वर्ष द्वैस हरिवश सुनाई। देइ कोटि विप्रन कौ गाई ।।
गया मध्य जो पिन्ड भराई। अरु फट कर आचमन कराई।
सूर्य पर्व कुरु खेत नहाई। ताको पाप सैल सम जाई ।।
स्वर्गारोहण मन दै सुनई। नासै पाप विष्णु कवि भनई।
वित उनमान देहि जो दाना। ताको फल गगा अस्नाना ।।
यह स्वर्गारोहण की कथा। पढत सुन फल पावै जथा।
पाडव चरित जो सुनै सुनावै। अन्न धन्न पुत्रहिं फल पावै ।।

दोहा

स्वर्गारोहण की कथा पढै सुनै जो कोइ।
अष्टादशौ पुराण को ताहि महाफल होइ ।।*

स्वर्गारोहण पर्व

. ... ' सो कन्न।
और जो सव ग्रुन विस्तार कहै। कहत कथा कछु अछल है।
वाही समै हँसि बोले जगदीशा। पाँचो वीरहि वरु धीसा।
तुम जिन हथिनापुर ठहराहू। पाँचौ वीरहि वारै जाहूँ।
तुम जिन वीर घरौ सदेहू। पूरब जन्म लहौ फल ऐहू ।।
सुनि कौता विलखानी वैना। जल हल रूप भये ते नैना।
जा धरती लगि भारथ कीना। द्रोवान गगे वेंपी लीना ।।
कमल फूल सेई रमभारी। सो भैया घाले सिधारी।
मारे कर्न सक्ति सजूता। से घर छाडि चले अब पूता ।।

---

* दरियावगज, जिला एटा के लाला शकरलाल पटवारी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९-३१, पृष्ठ ६५६-६५७)।

धरिती छाडि सर्ग मन धरिया। इतनी सुनि कौना लरखरिया।
विलखि परीछित राखि समझाई। बैठ राज प्रजा प्रतिपालौ ।।
राज सहदेव नकुल कौ देहू। हमको सग आपने लेहू।
तुमै छाँडि मोपै रह्यौ न जाई। साथ तुम्हारे चलिहौ राई।
इतनी सुनि वोले नरनाथा। जुगति नही चलौ तुम साथा ।।

× × ×

कायापलट भई उन देहा। पिछलौ उनको नाहिं सनेहा।
उनकौ नाहिंन सुरति तुम्हारी। अब तुमहिकौ घरी द्वै चारी ।।
कलि खोटी सुरपति जहाँ कहिया। ताको पाप छाडिते रहीया।
देव दृष्टि उन भये सरीरा। तुम्हैं नाहि पहचानत बीरा।
कलिजुग देव पाप की रासी। साध लोग छाँडिगे जासी।
कलि मै ऐसी चलिहै राई। जाति बडी विस्वा घर जाई ।।
और कहौ सब कलिके भेवा। कहत सुनत जग वीतौ देवा।
ब्रह्मकुड नुम करौ अस्नाना। औरु अचवौ तुम अमिरत पाना।
देव गननि के वदौ पाई। मुनि नारद कौ जाहुँ लिवाई।
अब तुमकौ पहिचानि है राई। देखत चरन रहे लपटाई ।।
तुव चरनन मै माथो लावै। ऐसो इद्र जू कहि समुझावै* ।।

---

* अतमादपुर, जिला आगरा के प० अजीराम की प्रति से (खोज रिपोर्ट सन १९२९-३१, पृष्ठ ६५७-६५८)।

२

मानिक कवि

(सन् १४८९ ई०)

भगवत गीता भाषा*

चौपई ।

सारद कहु बदौ करि जोर । फुनि सिमरौ तेतीस करोर ॥
रामदास गुरु ध्याऊ पाइ । जा प्रसाद यह कबितु सिराइ ॥
मूढिनि कौ है विष वल्लरी । गुनियनि को अम्रति मजरी ॥
थेधनाथ अम्रत विस्तरै । बिनती गुनी लोग सो करै ॥
आगि माहि डारियै स्वर्न्न । बुरे भले को लीजै मर्म ॥
तैसे सत लेहु तुम जानि । मै जु कथा यह कही वखानि ॥
पद्रहमै सत्तावनि आनु । गढु गोपाचल उत्तम ठानु ॥
मानसाहि तिह दुर्ग निरिंदु । जनु अमरावती सोहैं ईंदु ॥
नीत पु न सो गुन आगरौ । बसुधा राखन को अवतरौ ॥
जाहि होइ सारदा बुद्धि । कै बृह्मा जाके हिय सुद्धि ॥
जीभ अनेक सेष ज्यौ धरै । सो श्रुत मानस्यघ की करै ॥
ताके राजधर्म की जीत । चले लोक कुल मारग रीत ॥
सबही राजनि माहि अति भलै । तोवर सत्य सील ज्याबलै ॥
ता घर भान महा भरु तिसै । हथनापुर महि भीषम जिसे ॥
पाप परहरै पु नहि गहै । निस दिन जपतु ऋश्न कहु रहै ॥
सर्व जीव प्रति पालै दया । मानु निरदु करै तिह मया ॥
ग्यानि पुरुषनि मै परिधान । एकहि सदा जस्यसी भानु ॥
दयावत दाता गभीरु । निर्मल्ल जनु गगा कौ नीरु ॥
जौ बृह्मा गरुवै गुन जागु । तौ गुन तत जोग मनु लागु ॥
जै रुप मगद द्रिढ ब्रतु लहै । जौ द्रिढ सरु जुधि स्थिर गहै ॥
स्वाम धर्म यो पारे भानु । जा सम भयौ न दूजो आन ॥

---

* आर्य भाषा पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सौजन्य से प्राप्त ।

सब ही विथा आहि बहूत । कीरत सिघ नृपति कै पूत ॥
षट दरसनि के जानै भेव । मानै गुरु अरु बृह्मनु देव ॥
समद समानि गहरु ता हियै । इक बृत पुत्र बहुत तिह कियै ॥
भले बुरे कौ जानै मर्म । भानु कुवरु जनु दूजौ धर्म ॥
इहि कलजुग मै है सब कोई । दिन दिन लोभ चौगनो होई ॥
अनु धनु जसु गाडित तिन गयौ । पै वै क्यौ हूँ साथ न भयौ ॥
इतौ बिचारु भान सब कियौ । त्रिभुवनु माहि बहुत जसु लियौ ॥
भानु कुवरु गुन लोगहि जिते । मोपे वर्ने जाहि न तिते ॥
जीभ अनेक जु प्रानी होई । याके जसहि वखानै सोई ॥
कै आइर्बलु होइब घने । बरनै गुन सो भानहि तनै ॥
कै सारद कौ दरसनु होई । आदि अति गुन बरनै सोई ॥
थेघू इन मैं एकै लहै । ऊची बुधि करि चहु गुन कहै ॥
सौ जांगना सूर सम होई । तौ गुन बरनि कहै सब कोई ॥
जापै सायर पैरयौ परै । सो गुन भान तनै बिसतरै ॥
अगनित गुन ता लहै न पारु । कल्पबृक्ष कलि भानु कुमारु ॥
कल्पबिृक्ष की साखा जिती । गढि करि लेखन कीजै तिती ॥
कागद तहा धरन को होई । पार्बतु जौ काजर कौ होई ॥
फुनि सारद करि लेखन लेई ॥

लिखत ताहि भान गुन ताहि । तऊ न ताकै चित्त समाहि ॥
है को भानहि गुन विस्तरै । गुनियर लोग खरे मन डरै ॥
निहि तबोर थेघू कहु दयो । अति हित करि सो पूछन ठयो ॥
जाकें अधक बहुत जुग भागु । ताही को भावै वैरागु ॥
एकहि तब चित होइ उल्हास । जब काहू पहिनि सुनहि हास ॥
देख जाहि रीझै ससारु । एकनि कौ भावै सिगारु ॥
बहुत भयानक ऊपर भाउ । काहू करुना ऊपर चाउ ॥
एकनि कै जिय भावै बीरु । जौ अरि देखति साहिस धीरु ॥
कहै भान मो भावै राम । जातै ज्यौ पावै बिस्राम ॥

इहि ससार न कोऊ रह्यौ । भान कुवरु थेधू सो कह्यौ ॥
माता पिता पुत्र ससारू । यहि सब दीसै माया जारू ॥
जाहि नाम ना कलजुग रहै । जीवै सदा मुवौ कौ कहै ॥
कहा बहुत करि कीजै आनु । जो जानै गीता को ग्यानु ॥
जो नीकै करि गीता पढै । सब तजि कहिबे को नहि चढै ॥
गीता ज्ञान हीन नरु इसो । सार माहि पसु बावौ जिसो ॥
यातै समझै सारु असारु । बेग कथा करि कहे कुमारु ॥
इतनो बचन कुवरु जब कह्यौ । घरीक मनु धोखें परि रह्यौ ॥
सायर को बेरा करि तरै । कोऊ जिन उपहासहि करै ॥
जौ मेरे चित गुरु के पाय । अरु जौ हियै बसै जदुराय ॥
तौ यह मोपै ह्वै है तैसे । कह्यौ प्रश्न अर्जनुको जैसे ॥
सुनिह जे प्रानी गीता ग्यान । तिन समानि दूजौ नहि आन ॥
सजय लीने अध बुलाई । ताको पूछनि लागे राई ॥
धर्म खेत्र कुरु जगल जहा । कैरौ पाडव मेले तहा ॥
कैसै जूझ कहा तहा होई । मोसो वरनि सुनावो सोई ॥
मेरे सुत अरु२ पडौ तने । तिनकी बात सुसजय भने ॥

सजयउवाच

दोऊ दल चढि ठाढे भये । जिर्जोधन गुन पूछन लये ॥
विषम अनी यह कही न जाई । आचारजहि दिखावै गाई ॥
तेरे सिष्य पड के पूत । कुटल बचन तिन कहे बहूत ॥
धृष्टदमनु अरु अर्जनु भीमु । निकुलु सहदेराऊ जीमु ॥
राऊ विराट द्रुपदु बर बीरु । कुन्त भाज रन साहस धीरु ॥
धृष्टकेतु कामीस्वर राउ । कह्यौ न जाइ जिनहि बडवाउ ॥
महारथी दोवै के पूत । एते दीसै सुहड बहूत ॥
मेरे दल मै जिते झुझार । सुनो द्रोन गुर कह्यौ भुवार ॥
पहिलै तू सब ही गुन सूरु । अरु भीषमु रन साहस धीरु ॥
कृपाचर्यु जयद्रथु वर्मु । राजा सन मुहाष अनुकर्न ॥

अस्वस्थामा अरु भगदत । बहुत राइ को जानै अत ॥
भाति अनेक गहहि हथयार । जानहि सबै जूझ की सार ॥
सब जोधा ए मेरे हेत । तजि जीवनि आए कुरुखेत ॥
तिन महि भीषम महा जुझारु । सबहि सैना को रखवारु ॥
तीन भवन मै जोधा जिते । भीषम की नहि सरबर तिते ॥
इतने कहे राइ जब बैन । ठाढे सुने तहा गुर द्रोन ॥
अति आनद पिता महि भयौ । उपज्यौ हरष सख करि लयौ ॥
सिंघनाद गर्ज्यौ बर बीरु । सतन सुन रन साहिस धीरु ॥
पूरे पच सब्द तिन घने । नारायनि अर्जुन तब सने ॥
सेत तुरी रथ चढे मुरार । पथ लिये गोविन्द हकार ॥
पचाजननु मख करि लिये । देवदत्त अर्जनु को दिये ॥
आन जुझार पड दल जिते । सखनि पूरन लागे तिते ॥
सुनि करि सब्द अध सुत डरै । विनती पथ क्रश्न सो करै ॥

अर्जनुउवाच

कैरौ पाडव को दल महा । मेरो रथ लै थापौ तहा ॥
पहिलै इनहि देखौ पहिचानि । को मो सो रन जोधो आनि ॥
ए दुर्बुद्धि अध के पूत । अब इन कीनी कुमति बहूत ॥
सजै काया अध सो कहै । इतनी सुनि तब अर्जनु कहै ॥
लै रथ क्रष्न थापि पै तहाँ । दोऊ दल रन ठाढे जहाँ ॥
दैखे अर्जुन भीषम द्रोन । कर्न महाभरु बर्ने कोनु ॥
भैया ससुर देख सब पूत । पथहि बिथा भइ जु बहूत ॥

अर्जनुउवाच

ए सब सहृदे हमारे देव । कै रन मडो बिनवो सेव ॥
सिथल भयौ सब मेरौ अग । कापै हाथ करत रन रग ॥
सूकै मुख अरु कपहि जाघ । बहुत दुख ता उपजै मन माझ ॥
इष्ट मित्र क्यौं सकि यहि मारि । गोपीनाथ तुम हिदैं बिचारि ॥
बरु पडव कै बूडै राज । मानौ बुरौ जधिष्टरु आजु ॥

हौ न ऋश्न अब जुधहि करौ । देखति ही क्यौ कुल सघरौ ।।
देखा सगुन कैसे बर बीर । ए बिपरीत जु गहर गभीर ।।
से उन मोंको देखहि देव । होइ दुष्ट गति विनवो सेव ।।
अर्जनु बोलै देव मुरारि । जिहि ठा तुम्ह तह होइ न हारि ।।
हौ न विजौ चाहो आपनै । अरु सुख राज जुही ठल तनै ।।
कहा राजु जीवनु यह भोग । भैया बध हसै सब लोग ।।
जिनकै अर्थ जोरियै दर्ब । देषति जिनहि होइ अति गर्ब ।।
राज भोग सुख जिनकै काम । तै कैसै बधियै सग्राम ।।
द्रोन पितामहि बहुत कुवारु । सारे सुसर ते आहि अपार ।।
मातुल सबधी है जिते । हौ गोबिद न मारौ तिते ।।
इन मारै त्रभुवन कौ राजु । जौ मेरे घरि आवै आजु ।।
हौ न घाउ घालो इन देव । मदसूदन सो विनवै सेव ।।
इन मारै हमको फल कौन । अर्जन कहे ऋश्न सो बैन ।।
याही लगि हो सेवो वीर । इन मारो सुख होइ सरीर ।।
अरु हम लोगन देई लोक । इनहि बधै विगरै परलोक ।।
ताते हौ न इनहि सघरो । माधौ तुम सौ बिनती करो ।।
ए लोभी मुनि ऋश्न मरारि । कछू न सूझै हिये मझारि ।।
कुरवा बधै दोष अति मान । मित्र दोष कै पाप समान ।।
कै यह पापु निवर्त्रो हरी । मत्र ऋश्न सो विनती करी ।।
कुल क्षय भयै देखियै जबही । बिनसै धर्म सनातन तबही ।।
कुल क्षय भयौ देखियै जाई । वहुरि अधर्मु होइ नव आई ।।
जबहि ऋश्न यह होइ अधर्म । तव वै सुदरि करै कुकर्म ।।
दुष्ट कर्म वै करिहै जबही । वर्ण मलटु कुल उपजै तबही ।।
परहि पितर सब मझार । जौ कुटब घालियै मार ।।
नारिन को नरु रक्षकु कोई । धर्म गये अपकीरत होई ।।
कुल धर्महि नरु बाटै जबही । परै नर्क सदेह न तबही ।।
यह मै बेदव्यास पहि सुन्यौ । बहुरि पथ ऋश्न सो भन्यौ ।।

सोई एक अचभे मोहि । द्वै करि जोरै बूझौ तोहि ।।
तेरै सनिधान जो रहै । पापु न भेदै अर्जनु कहै ।।
मोहि कुमति कै ऐसी होई । बधि कुरवाहि राजु को लेई।।
जौ ए जूझहि मो सो आनि । हौ न बधौ इन सार गयान ।।
इतनो कहि अर्जुन बर बीरु । छाडै धनुष धरै नहि धीरु।।
रथ कै पाछै बैठे जाइ । बहुत सोक मन मै पछिताइ।।

४

अज्ञात गद्य लेखक

(सन् १५०० ई०, लगभग)

हितोपदेस*

दोहा—श्री महादेव प्रताप तै, सकल कार्य की सिद्ध ।
चन्द्र सीस गगा बहत, जानत लोक प्रसिद्ध ।।१।।

बार्त्ता—श्री महादेव जी के प्रसाद तैं । साधु पुरुष है । तिनको सकल काम की सिद्धि होहु । कैमे हैं श्री महादेव जू । जिनकै माथै चन्द्रमा की कला है । सो गगा जी के फेन की सी लगै है रेखा । अरु यह हितोपदेस सुनै तैं पुरुष ससकृत बचन मै प्रबीन होय । नीति बिद्या कू जानै जे पटित होय सो आपकू अजर अमर जानै । अरु बिद्या अर्थ धर्म कौ सचौ करै । अरु सर्व द्रव्य मे बिद्या उत्तम धन है जाकौ कोऊ ले न सकै । अरु जाकौ मोल नाही । कबहू जाकौ खय नाही । जातै बिद्या नीच मनुष्य कौ भी बडे राजा ताई पहुँचावै । आगै तौ वाकौ भाग फलै । जैसे नदी नाले कौ समुद्र लगि पहुचावै । अरु सास्त्र विद्या सीखै ताकी मनुष्य मे प्रतिष्टा जस होय । तासू विद्या कू बिरध अवस्था ताई सीखबौ करै । यह गुप्त धन है । या कू कोऊ चोर जार, राजा, ठग ले सकै नाही । सास्त्र विद्या बालक अवस्था मै अभ्यास घणौ कराइयै । जैसै कुभार काचा कुभ ऊपर चित्र करै सो अगनि मै पचै तब चित्र दूर न होय । तैसै बालक अवस्था मै सीखी बिद्या जाय नाही । अब कथा कौ नाम एकत्र करि बालकन कौ नीत. बिद्या को व्यौहार उपदेस करत है । तहा नीति जाणवे के ताई पाच आख्यान करि समुझावै है । पहिलौ तौ मित्र लाभ ।।१।। दूसरौ मित्र भेद ।।२।। तीसरौ बिग्रह ।।३।। चौथौ सधि प्रीति ।।४।। पाचमौ लब्धि प्रनास ।।५।। इणा पाच की नीति करि कै ।। अब कथा कौ प्रारभ करै है । गगा जू कै तीर पटणा नाम नगर है । तहा सर्व राजान कौ गुन जा पासै ऐसौ राजा सुदरसन । सो राजा एकण समै काहू पै दोय सिलोक सुनै । जो बिद्या है सो सबही की आख है । सास्त्र रूपी नेत्र जाकै नाही सो अधरे है । जो बसत न देखी सो सास्त्र सुनैं तै जानीयै । जो तन धन की अधिकाई अरु ठकुराई भलौ बुरौ न जानीयै । तौ ए

---

* श्री अगरचन्द नाहटा के सग्रह से प्राप्त । श्री नाहटा जी इसका रचना-काल १७ वी शताब्दी से १८ वी तक का मानते हैं । पीछे पृष्ठ ३२ पर जो मत दिया गया है वह मत श्री नाहटा जी का न समझा जाकर प्रस्तुत लेखक का समझा जाय ।

च्यार बात अनरथ कौ मूल है। तब राजा ऐसौ सुनि अपने पुत्र की मूरखता देखि चिंता करत भयौ। अरु कह्यौ ॥ ऐसे पुत्र भये कौन काम के। जिनमैं धरम नाही। अरु विद्या नाही। ते पुत्र ऐसैं जैसैं कानी आँख। देखवे कू नाही। अरु दूखनी आवै तद पीर करै, तैसे मूरख पुत्र सताप करै सो भलौ नाही। तातैं अनजायौ पुत्र। मूऔ पुत्र सो भलौ। जाकौ दुखकरीयै पिए कितरेक दिन पीछै भूल जाय। अरु मूरख पुत्र कौ दुख जावज्जीव ताइ रहै। ऐसौ पुत्र भयौ किहि काम कौ पुत्र सो जानीयै जू। बुद्धिवान पडितन की सभा मै जाकौ नाम लीजैं। अरु मूरख पुत्र की माता तौ बाझ कर बखानीयै। अरु जिनकाहू बडे तीरथ मै बहुत तपस्या करी होय। सो ज्ञानी होय। सो स्त्री कै विषै प्रियदरसन होय। अरु आप सब ही सू मीठो बोलै। धरमातमा होय। सुबुद्धी होय। द्रव्य उपाय जानै। देह आरोग्य होय। आज्ञाकारी होय। ऐसे पुत्र की माता पिता सार न करै तौ सत्रु जानीयै। अरु पुत्र पडित हो नही तौ सत्रु जानियै। तब राजा कही। मेरौ पुत्र पडित होय तौ भलौ। एक कोउ राज मभा मै बोल्यौ। राजा ए पाच बात देह धारी कौ गरभ मै सिर जै है। एक तौ आयु ॥१॥ दूजौ द्रव्य ॥२॥ तीजी बिद्या ॥३॥ चौथौ करम ॥४॥ पाँचमौ मरन ॥५॥ ए भावी मै होयसो बिना भई न रहै। जैसे श्री महादेव जी कौ नगनता। परमेश्वर कू सरप सिज्या। तातै चिन्ता काहै करीयै। जो तेरे पुत्र के करम मै बिद्या लिखी है। तौ बिद्यावत होयगौ। ऐसौ जान चितामत करौ। तब राजा कही। यह तौ साची है। पर मनुष्य कौ परमेश्वर। जौ बिद्या साधन कै अरथ दए है। जैसैं एक चक्र को रथ न चले तैसैं पुरुसारथ कीया बिना कारज सिद्ध न होय। तातै उद्यम सदा करीयै। करम कौ आसरौ पकर बैठि न रहीयै। यह पुरुष को धरम है। जैसे कुभार माटी आनै। जो कछु कर्यौ चाहै सो करै। तैसै मनुष्य अपनै करम समान फल पावै। करम तो जड है। तिनसु कछु न होय। उद्यम है सो करता है। तातै कर्त्ता करम को पेरै। तब भलौ बुरौ करता करम के सजोग तै होय। अरु वह माता पिता को धरम है। जा पुत्र कौ बिद्या कौ उद्यम करावै का है। अरु प्रतिपालन करै जातै मूरख पुत्र सताप ही करै। पडितन की सभा मै सोभा न पावै। जैसे हसन मै बुगला न सौहै। तब राजा यह विचार पडितन की सभा

एकठी करी। अरु कह्यो। अहो पडित समूह। तुममे कोउ ऐसौ पडित है। जो मेरे पुत्रन कौ नीत मारग कौ उपदेस करि नवो जनम करै जैसै काच सोना की सगति करि मरकत कौ भाव धरै। सरब लोग वाकौ मरकत मनि जानै। नैसै माध सगति करि बुद्धि कर मूरख हू पडित होय। जातै नीच की सगति बुद्धि नीच ही होय। तहाँ यह राजा की आज्ञा सुनि बिसन सरमा ब्राह्मन सकल नीत सास्त्र कौ ज्ञाता वृहस्पति समान सो राजा सो कहत भयौ महाराज राजकुमार तौ पढायवे जोग्य है। जातै अजोग कू बिद्या न दीजै पढै तौ सिद्ध न होय। अरु नीच पढै तौ अनीत बिसेष सीखै। बिद्या कौ गुन छाडै औगुन कौ दृढ करि पकरै। तातै कुपात्र कौ पढायबो जुगति नाही जैसै बिलाव कू भोजन नवो नवो खवाइयै तौ भी बिलूरवै की घात नख तै करै। पुनि कोटि जतन करि बगला कू पढाइयै तौ भो सूवा मो न पढै। मुनि धरम मै निपुन होय। मछरी मारबे की घात अधिकी सीखै। राजा तुम्हारे कुल मै निर्गुन बालक न होय। जैसे मनि मानक की खान मे काच न उपजै। तातै हम बिद्या बेचै नाही। तुम पै कछु लै नाही। तुम्हारी प्रारथना है। तातै हम तुम्हारे पुत्र सहज सुभाव ही मै नीति मारग मै निपुन करि है। यह सुनि राजा। वृद्धि ब्राह्मन बिसन सरमा सौ बोले। अहो पुहुप की सगति पाय करि नान्हे कीटक हू महादेव के माथै चढै। तैसै तुम्हारी सगति तै कहा न होय। जेसै पाथर की प्रतिष्टा करै तब सब मनुष्य देवता करि पूजै। पुनि जैसै उदयाचल परबत की बसत सूरज के उदै सूरज समान सरब बस्तु दीसै। तैसे साध की सगति नीच हू की प्रतिष्टा होय। जैसे चदन बन बिषै और वृच्छ है सो चदन समान करै। तातै मेरे पुत्रन कौ तुम पडित करिवे जोग हौ। तुम सरब सास्त्र के जाए हौ। पडित बुद्धिवान हौ। तब राजा बीनती करि ब्राह्मन सू विचारि कै अपनो पुत्र वा ब्राह्मन कू सौप्यौ। तब वह ब्राह्मन उनकौ ऊचे मदिर लै बैठ्यौ कोईक समै पाय ए कही—सुनो महाराज कुवार। सुबुद्धी होय सो काव्य कथा, सास्त्र की बात सुनि दिन गमावै अरु मूरख होय सो निद्रा कलह खेल मै दिन बितीत करै। तातै मे मित्र लाभ की नीति कहौ हौ। तुम्ह कू। तुम्ह सुनौ। प्रथम मित्रलाभ सु नफौ बहुत है। एक चित्रग्रीव कऊवा। और मूसा। अरु कछुवा। अरु हिरण्य। ए परम मित्र है। तिनके मिलन अरु करन ताकी

कथा कहत है। तब राज पुत्र कही—यह कैसी कथा है। अब विष्णु सरमा कहत है। गोदावरी नदी के तीर। एक बडो सैंबल को रूख है। तहा सब दिसि के पछी आय बिसराम लेत है। तहाँ एक दिवस प्रात ही लघु पतनक नाम कऊवा जाग्यौ। तहाँ काल रूप एक व्याधी आवत देख्यौ। ताकौ देखि विचार कर कहन लागौ आज प्रात समै अधरमी दुराचारी कौ मुंह देख्यौ। सो न जानीयै आज कहा होयगो। जो काहू भलै हू को प्रात समै दरसन हुय तौ भलौ हुय। यह बिचारि कै लघुपतनक नामै कऊवा व्याधी कौ देखि उडि चल्यौ॥ कह्यौ है॥ उतपात की ठौर पडित चतुर न रहैं। भय सोक मूरख पर्यौ क करै। गृहस्थ कौ ऐसौ विचार चाहीयै। नित्य प्रात ही समै उठि कै यह बिचारै। श्री परमेश्वर जी चैन सू आठ पुहर राखै। सत्रु मित्र सौं सावधान राखै। कष्ट सौ दूर राखै। तितरै ही ज उन व्याधी रूख तरै चावर कै कन बिछाए। जाल पसार्यौ। तब चित्रग्रीव परेवा परिवार सहित उडतै चावर देखै। तब एक परेवा बोल्यौ। ए चावरा कौ चून खायौ चाहत हौ। तब चित्र ग्रीव कही। या बन मै चावर कहाँ ते। ए कछु कौतुक है। ए मोहि नीके नाही लागतु हैं। सुनौ जो तुम इन चावरन कौ लोभ करिहौ तौ जैसे ककन के लोभ तै कोऊ बटोई मार्यौ गयौ। तब परेवा चावर खायौ चाहत थौ। सो चित्रग्रीव परेवा सौं पूछण लागौ। यह कैसी कथा है। अब चित्रग्रीव कहत है।—

दोहा—मै एक दिन बन मै रह्यौ, तहां चरित यह देख।
बृद्ध बाघ ऐसी करी, मार्यौ ब्राह्मन एक॥

बार्ता—मै एक दिन बन मे रह्यौ। तहाँ यह देख्यौ। जु बृद्ध बाघ पानी मैं न्हाय। कुस हाथ मै ले मारग मै आय बैठौ। इतेरे एक बटोई ब्राह्मन आय निकर्यौ। ब्राह्मन मारग मे बैठौ बाघ दीठौ। तब इन विचार याकै भय सू दूर रहवा लागौ। तब बाघ तासू कह्यौ। अरे ब्राह्मन मै मारग मै बैठौ हूँ। सो पुन्य करने के सस्कार तै बैठौ हूँ अब मो पास यह सोना को ककन लेहु। कृष्णारपन करत हौ। यह वाकौ वचन सुनि। बटोई विचार्यौ। आज तौ मेरौ भाग जाग्यौ दीसत है। पर तू ऐसो सदेह मै जायबौ जुगत नाही। बुरे तै भली बसत पावै तौ आगै दुख पावै। जैसौ अमृत मे विष होय तौ मारै ही

मारै । अरु द्रव्य की प्रापत है जहाँ कष्ट होय । जहाँ कष्ट है तहाँ फल है । जैसे जहाँ माया तहाँ साप । जहा फूल तहा काटा । बिना दुख सहे सुख नाही । यह विचार बाघसू कही तेरै ककन कहा है । तब बाघ हाथ पसार ककन दिखायौ । तब बटोई ब्राह्मन कह्यौ । तू बाघ व्याधि कौ करन वारौ तेरौ विसवास कैसै करू । तब बाघ बोल्यौ । अब हू प्रात सिनान करत हौ । अरु दातार हू । अरु वृद्ध हू । मेरे नख नाही । दात नाही । फेर इन्द्रियन कौ बल हट गयौ । अब मेरी प्रतीत तै क्यू न करै । अरु जग्य । बेदपाठ । दान । तप । सत्य । धीरज । छिमा । निरलोभ । ए आठ प्रकार कहे हैं । तिन मै च्या पाखडी तै होय । अरे हू तो निरलोभी हू । अपने अरथ ककन दीयो चाहत हूँ । बाघ मास खाय सो मेरै नाही । न जानै सो कहै । जैसे कुटनी दूती धरम चरचा करै तौ कोई न मानै । ब्राह्मन हत्यारौ भी मानियै जैसे तू साचौ । पिण मेरी देह वृद्धा भई । जातै मै बहुत पाप करे है । तातै मैं सरब पाप को त्यागन कर्यौ । अरु धरम सास्त्र पढ्यौ है तो तू सुनि । जैसौ अपनौ प्रान आपकू प्यारौ है तैसौ सब प्रानी कौ प्रिय हैं । साध अपनी छिमा करै । सब सू दया करै अरु काहू के दैन मै लैन में नाही । प्रीय मै अप्रीय मै न होय । जगत सू असगत रहै । अपनौ समौं पिछान और सू व्यौहार साधै । ए साध के लछन है । सो तू दरिद्री है । तो कू प्रयोग पढाय ककन दीयो चाहत हौ । यह बात श्रीकिसन जू राजा जुधिष्टर सै कही है । दान दरिद्री कू दीजै । बहु फल होय । अरु दान बेदोक्त पाठी कूं दीजे । सो दान सात्विकी कहीये । तातै तू ब्राह्मन सरोवर न्हाय । सुचि होय कै आव दान लेहु । तब ब्राह्मन पानी कै सरोवर मै पैठो सनान करिबे कौ । कीच मै पाव अटक्यौ । निकस न सकै तब बाघ उठि कै वापै चल्यौ । ब्राह्मन कही । अहो सिघ तू काहे आवति है । तब बाघ कही । पानी मै ठाढो रहि । तो पै ककन कौ प्रयोग पढाय । सुसति सबद सुनाय जब नजीक गयौ । तब वा ब्राह्मन की गति कीच मै प्रापति भई देखिकै । बाघ गरदन पकरी । तब ब्राह्मन कही । पापी कौ बेद सास्त्र कौ पढिबौ पुनि निमित्त नाही । जाकौ जैसौ सुभाव ताकौ तैसीई करियै । जैसे गाय कौ दूध मीठौ सदाई । जाकी इद्री मन बसि नाही । जाकी क्रिया जैसे हाथी कौ सनान । दुहागनि कौ

सिगार । तातै मै भली न करी । जू बाघ की प्रतीति करी । सब ही आपके कुल के सभाव चलै । यह विचार करै तोलौ सिघ ब्राह्मन मार भछन कर्यौ । तब चित्रग्रीव परेवा बोल्यौ । सदा बिन विचारे काम न कीजै । जातै पचायो अन्न । पडित पुत्र । पतिव्रता अस्त्री सुसेवित राजा बिचार कर कहिबौ अरु करिबौ । तासू बिगार कबहू न उपजै । यह बात सुनि । तब एक परेवा बोल्यौ । अहो ए बूढे की बातै आपदा मै कहा लू बिचार करिहौ । ऐसौ सदेह करत रहीयै तौ भोजन हू करत न बनै । जातै अन्न मै पानी मै सदेह ही है । तातै जो बिचार करत रहै तो सुख अरु जीवन कैसै बनै । जातै कह्यौ है जो तृषावत । असतोषी । क्रोधी । सदा सदेही । और के भाग की आस करै । अति दयावत होय । ए छही सदा दुखी होय । यह सुनि वह परेवा चावर चुगन उतर्यौ । ताके सग सब परेवा उतरे चित्रग्रीव परेवा विचार्यौ । इनके सग होय सो होय । जातै मनुष्य अनेक सास्त्र पढै । औरन को उपदेस करै । पै लोभ आनि घेरै । तब बुद्धि न चलै । तहा इनहू कह्यौ । कुटुब मै मरन भलौ । अकेलौ जीवन हू कछु नाही । आगै परेवा जाल मै फसे । जाके कहे उतरे ते सब वाहू की निदा करैन लागै । ए और हू ठौर कही है । जब सभा मै सब सौ आगै होय कारज कीजै तौ सुधरै तब सब ही कू फल बरोबर होय । अरु कारज बिगरै तौ दोस एक कू दीजै । वाकी निदा सुनि चित्रग्रीव बोल्यौ अरे याकू दोस नाही । जब आपदा आवै । तब मित्र हू शत्रु होय । जैसै बछरा कौ गाइ की जाघ वाकौ बाधिबे कौ थाभ होत है । आगै बधु सोई जो आपदा राखै । भई बात कू पछितागै सो तो कपूत के लछन हैं । तातै धीरज करि छुटिबै को जतन करौ । जातै आपदा मै धीरज । सपदा मे विनय । सभा मै बचन चतुराई । सग्राम मै पराक्रम । जस मे रुचि । पढिबै कौ विसन । सुनिबे कू सास्त्र । यह महत पुरुष कौ सुभाव है अरु पुरुष कू छह दोष सदा छोडे चाहीये । निद्रा । अधीरज । भय । क्रोध । आरस । सोक । अथ यह उपाय करौ । सब एक मतै होय बल करो । या जाल कू ले उडौ । जातै थोरे ही एक मतै होय । तौ बडो कारज सिद्ध करै । जातै बहुत घास मिलायै जेवरी कीजै तौ । तासौ हाथी बाध्यौ रहै । यह विचार सब मिलि बल कीयौ । जाल ले उडे । जब व्याधी वाकौं दूर ले जाते देखे । तब कह्यौ अब ही

सब एक मतौ हैं। जब जाल धरती परि है। तब इन परेवा कौ पकरि हूँ। तब व्याधी की द्रिष्टि तै परेवा दूर गये। तब व्याधी निरास होये। परेवा बोले। अहो राजा व्याधी तौ हमारे मास की आस छोडी। अब जाल मैं सों कैसौ निकस बौ। तब चित्रग्रीव कही। ससार मै माता पिता और मित्र। ए तीनू सुभाव ही तै हित करै। तातै हमारौ मित्र हिरण्यक नामै मूमा विचित्र बन मै गल्लू की नदी की तीर रहत है। तहा चलौ। वह अपनौ अफद काटैगौ। ऐसो विचार मूसा कै द्वार बूझत गये। उहा हरनक अपने द्वार बैठौ है। परेवा आवत देखे। तब बिल मै पैठौ। चुप होय बैठौ। तब चित्रग्रीव कही। मित्र बाहिर आवो। तब मित्र को बोल पिछान। बिल तै निकस कही। मेरे बडे भाग। मित्र चित्रग्रीव आए। अरु जाल मे पछी देखि कही मित्र ए कहा। तब चित्रग्रीव कही। यह पूरब जनम कौ पाप है। जाको जैसी भावी लिखी होय। ताकौ तैसी होय। जातै रोग सोग बधन दुख अपनै कीए करन कौ पाप है। यह सुनि मूसा चित्रग्रीव के बधन काटन चल्यौ तब चित्रग्रीव बोले। मित्र पहले मेरे सगी हैं। तिनके बधन काटो पीछै मेरे बधन काट। तब हिरन्यक कही। ए बधन कठिन। मेरे दात नरम। पहिलै तेरे बधन काट। पीछै होय है मो औरन कौ कारज करूगो। तब चित्रग्रीव कही। मित्र जो पहिलै इन सबन का बधन खुलै तौ यह जुगत ही है। हू आप पहिलै छूटौ इनमै एक हू फासी मे रहै तौ नायक नाही। हिरन्यक मूसै कही। अपनी छोड पराई बात कीजे तो यह नीति नाही। सुनौ दुख देखीयै अरु धन राखीयै। धन दीजै स्त्री की रख्या कीजै। अरु धन स्त्री जाय तौ जान दीजै। अरु आपनपौ राखीयै। जातै धरम ॥१॥ अरथ ॥२॥ काम ॥३॥ अरु मोख ॥४॥ ए च्यार पदारथ प्रान के रखि रहैं। प्रान छाडे जिन च्यारू छाडे। तब चित्रग्रीव कही। मित्र नीत तो ऐसी है। पै पडित होय सो सरनागत बछल चाहीयै। पराये हेत प्रान अरु धन दीजै एक दिन तौ शरीर कौ नास है। तातै और कै काज सरीर आवै तौ यातै कहा भलौ है। तातै तू मेरे अनित्य सरीर राखिबे को जतन छाडि। अरु नित्य अबिनासी जस कौ जतन करि। अनित्य देह तै नित्य जस पाईयै। मलीन तै निरमल बसत पाईयै। सरीर अरु जस बहुत अतर हैं। यह सुनि कै

हिरन्यक]मतोज पायो। अरु कही। मित्र तोकौ इन सेवकन के सनेह तै तीन लोक को राज बूझीयै। यह कही। सब ही के त्रधन काटे। अरु कही। मित्र तुम अपनी बुद्धि के दोष करि बधे। अब मन मै दुख मत करौ। जातै पछी एक जोजन तै भूमि परयौ अन देखै ंै जाल न देख काल जान चद्रमा सूरज कौ राह छाया करै। हाथी अरु सरप को भी बधन हैं। पडित निरधन। कृष्ण जू कौ सरप सिज्या। सब बातन मै भावी करम रेखा मबल जानियें। और कहा आकास गामी पछी हैं तेउ बधन मै परत हैं। अभाग तै कहा न होय। बिकट ठौरहू तै भी काल हाथ घाल कै लेत है। सब ही तै काल महा बलवान है। जाकै आगै निहचल कोऊ रह्यौ नाही। ऐसौ है काल। यह भाति समुझाये। मनोहर वचन कहि चित्रग्रीव बिदा करे। मूसा बिल मै गयौ।

× × ×

अन्त

राजा भोज और पाडे बररुचि की कथा

एक राति समै राजा भोज की स्त्री राजा सौ रीसानी। तहाँ राजा काम पीडित अनेक जतन करे। वाकै मन कछू न मानी। निदान रानी बोली ? तू मेरौ घोरा होय हू तेरै मुख लगाम देकर तेरी पीठ पर चढौ। चाबक चटकाऊ तू हीसै। अरु मोह लयै अगन मै दौरत फिरै। तौ तेरो मनोरथ करू। तब राजा तैसीयै करी। सतोष पायौ। अर वाही रात पाडे की स्त्री पाडै सू रीसानी तब ताहि पाडे कही। तू काहू भाति रीस छोडै। उन कही। तू मेरो अपराधी है। तेरौ सिर मूडि तोहि भद्र करौ। तौ मेरो क्रोध मिटै। तब पांडे हू मूड मूडायौ वाकौ गायौ गायौ। प्रात भये राजा सभा मे बैठे। तहा पाडे आए। राजा रहस जान पूछत भए। अहो विप्र बिना परब भद्र भेष कैसे भए तहा राजा कौ रात कौ मरम पाडे जान्यौ हो। तातै पाडै कही। राजा स्त्री जित पुरुष कहा न करै। जहा मनुष्य घोरा की ही भाति हीसै। जहां बिना परब सिर हू मूडियै। तातै अरे दुष्ट जलचर तू काम अध स्त्री-जित है। ऐसें बानर मगर विवाद करत एक जलचर मगर सू कही। तेरी स्त्री अनसन तै बैठी प्रान देत

भई। अरु तेरै घर और मगर आय रह्यो है। एसो सुनि मगर दुख पायौ। अरु कही। घर है सौ स्त्री के आसरै है। स्त्री बिना घर अरु बन बराबर है। वृच्छ को मूल ऐसें स्त्री घर को मूल है। जात कह्यो है जा काहू के मात नाही अरु मीठा बोली स्त्री नाही ताको बनवास भलौ। तब मगर बानर सा कही। मित्र मेरौ अपराध छिमा करौ। हो अब स्त्री के दुख देह छाडत है। तब बानर हस्यौ। एरे मूरख तेरे बिगार भयो सो जुगत ही है। अब वैसी दुष्ट स्त्री गई तसकौ तोकौ उछाह करनौ। जातें कलहगारनी स्त्री महा जरा कौ रूप है। जौ आपनी आतमा कौ चैन चाहे तो स्त्री सौ बिरकत रहै। गुजा फल जैसी स्त्री वाहिर सुरंग भीतर बिप चाहै सौ करे। मन मैं होय सो कहि। अर कहै सौ करै ई करै। स्त्रीयन के भाति भाति के चरित्र है। स्त्री रख्या मारन, ताडण, छेदन तै न होय। वह अपनी इच्छा सदा चलै। सनेह करै। रस करै। बिरस करै। कोमल होय। कठोर होय। सब भाति आप कौ मनोरथ साधै। अरु स्त्री मैं सहज दोष सुभाव ही तै उपजे। रूठौ बोलै। साहस बोहोत करै। माया केलवै। कपट भरी होय। लोभ अधिक। असुचि रहे। निरदई होय। तब मगर कही। अहो मोमै दोय अनीत भई। मित्र सौ मित्राई गई। अर उत स्त्री मरी। जैसै एक स्त्री कै जार भयौ न भरतार भयौ। बानर कह्यौ यह कैसी कथा है। तब मगर कहत है। वाहू ठोर एक कृमान की स्त्री तरुनी। अरु भरतार बूढौ। सा वाकै सुख को न पौहचे। तातै केवल पर पुरुष हेरे। घर के काम सौ वाको मन न लागे। उदास रहै। एक दिन कोई पराए चित बित कौ हरन हार वाकौ आय मिल्यो। उन कही। हे सुभग सुभ लछन मेरो पति बूढौ जर जर है। तात तू मेरौ भरतार होहु। घर कौ बित लेकै तेरै सग चलौ। उन कही। भली बात अब तूं सकारे या ठौर आव इहातै मिलकर इहा तें नीसरै। तब वह अपने घर गई। रात कौ घर कौ बित सब सकेल्यौ। गाठ बाधी प्रात ही उठी। वित ले सहेठ की ठौर गई। वह पुरुष वाह आगै कर दख्यन कौ चल्यौ। जब कोस आठ गयौ। तहा नदी कौ नालौ आयौ। तहा वह पुरुष बिचार करत भयौ यह जोबनवती पर पुरुष रति है। आज मेरै सग काल्ह काहू और सू बात करै। अर याकै पीछे कोई आवै तौ मोह भलौ नाही।

ताते याको बित लै चलत रहौ । तब उनकौ सतोष उपजाय अरु कही । हे भद्रे यह नदी बहै है । तातै पहिलै अपनौ बित्त पार धर आऊँ । बहुर तोहि पीठ पर चढाय ले चलौ । तब उन बित्त की गाठि वाकौ सौपी । धूरत बिचारी यह कपरा आछे पहिरे है तौ कपरा काहे छोड़ू । तब कही । प्रिये इहा और कोउ नाही । कपरा पहिरे है तै उतार दे तब कपरा कु लए आप नदी पार गयौ सु गयौ ही गयौ । वह बिभचारनी नागी होय नदी की तीर बैठी । तहा एक स्यालनी मास कौ पिंडा लयै आई । देखै तौ नदी की तीर एक मछरी निकर बैठी है । स्यालनी मास कौ पिडा धरती धर्‌यौ । आप मछरी पकरन दौरी । तहा मछरी तौ पानी मै कूद परी । अरु मास कौ पिडा थौ सो चील्ह झपट आकास गई । तब स्यालनी चील्ह साम्हौ देखन लागी । तहा वहै बिभचारनी हसी । अरु कही । अहे मछरी तौ जल मै गई अरु मास कौ पिडा चील्ह ले गई । अब आप कहा देखत हौ । तब स्यालनी बोली—जैसी हौ चतुर तासौ तोमैं दूनी चतुराई । तेरौ बित्त गयौ अरु तेरै जार भयौ न भरतार भयौ । तू मोह बैठी कहा देखत है । मगर कही । मेरै घर और मगर आय रह्यौ तिनसू कौन उपाय करौ जाते कारज साधबे कौ नीत मै च्यार उपाय कहे हैं । साम । दाम । डड । भेद । इन मै मोकू जो बूझीयै सो कहौ । बानर कही । अरे मूरख कू उपदेस न दीजै । मगर कही । मित्र हू मूरख सोक समुद्र मै पर्यौ हू । तू काढ । जाते कह्यो है । पर उपगार कौ जे साध हैं । तिनके गुन कौ पार नाही । अरु अपने काम सू जे असाध है । तिनकौ असाधपनो कहा कहनौ । तातै तू साध है । अरु हूँ असाध तेरै सरनै आयौ हू । भलौ उपदेस होय सो बताय । तब बानर वाकौ दीन पनौ देखि कहत भयौ । भाई अब तू अपने घर जाइ । तेरे सजाती सू जुध कर । जीतैगौ तौ धर भोगवैगो । मरेगौ तौ स्वर्ग जायगौ । जाते कह्यौ है । उत्तम पुरुष सू साम उपाय कीजै । मनुहार करियै । अरु दुष्ट सू भेद उपाय वाके हितू से होय । वाही डराय अपनौ काम कीजै । अरु बराबर के सत्रु सौ डड उपाय लराई कर अपनौ बित्त राखिये । जैसें एक स्याल ऐसी नीति करी । काहू बन मै चतुरानन नाम स्याल रहैं । तिन एक तुरत कौ मर्‌यौ हाथी पायौ । ताकै आस पास वह स्याल फिरै । पै वाको

कठिन चाम स्याल पै कटे नाही। तब तहाँ एक केसरी सिंघ नाहर आया। स्याल वाकै साम्है जाय कही। स्वामी मै एक हाथी मार्यौ है। तुम वाका अंगीकार करौ। सिंघ तहा आयौ। स्याल सा कही। हम तौ परायौ मार्यौ खावैं नाही। यह हम तो ही कू दयौ। सिंघ तौ गयौ। तब ही एक बघेरा आयौ। स्याल बिचार्यौ यह दुष्ट है। यासौ भेद उपाय डराय कर काम करौ। तब वाकै थोरो सो साम्है जाय गुमान सौ हितू होय बोल्यौ। अहो कहा आवत है। यह हाथी नाहर मार गगा न्हाहन गयौ है। मोहि रखवारौ कर गयौ है। बघेरा जो देखै तौ नाहर के खोज देख तुरत भाज्यौ। इतने बीच एक चीता आयौ स्याल बिचार्यौ। यापै हाथी की खाल फराय लीजै। तब चीता सौ कही। अहो भगनीसुत बहुत दिन सौ देख्यौ। भूखो है तौ आव। यह हाथी सिंघ मार गयौ है। नदी सनान कर आवें तौलौ तू कलेवा कर चलत रह। उन कही। मामा हम अपनौ मास राखि सकै तौ लाख। सिंघ कौ मार्यौ हम कैसे खाय। स्याल कही। हू रखवारौ हू। तोहि आडौ खरौ रहू गौ। सिंघ आवन की सोध द्यौ तब भागीयो। तब चीता हाथी कू लागौ खाल फारी कछु मास मुख मै आयौ। अरु स्याल खाल फरी जान अरु पुकार्यौ। सिंघ आयौ हे। चीता उठि भाज्यौ। स्याल ऐसी भांति दान उपाय करि आप कौ काम कराय लीयौ। पीछे और स्याल सजाती आए तिनसू डड उपाय लराई कर काहू कू हाथी कै नजीक आवन न दयौ। ऐसे सान, दान, डड, भेद च्यार उपाय है सो जैसौ समौ देखीयै तैसौ करीयै। मगर कही। हू परदेस जै हू। बानर कही। एक चित्रागद नाम कूकरा परदेस कू चल्यौ। काहू गाव मै काहू कै घर मै पैठौ। आछो खान कू पायौ। जब बाहिर आयौ तहा गाव के कूकर वाहि लागे। तब फिरि घर आयौ। सब कूकर वाकौ परदेस की बात पूछन लागे। उन कही। परदेस मै और सब बात भली पै सजाती देख सकै नाही। जब लौ घर बैठे पेट भरे तबलो बाहिर निकरीयै नाही। परदेस कौ रहनौ अति कठिन है। तातें अरे मगर तेरी दुष्ट पतनी तौ गई। अरु तू सकाम है। नयौ व्याह कर जाने कह्यो है। कूवा कौ पानी, बड की छाह, तुरत्त बिलोवना घिरत, खीर कौ भोजन, बाल स्त्री यह प्रान के पोषक है। अवस्था प्रमान कारज करीजै। तामै दोष नाही। यह उपदेस

सुनि मगर अपने घर आयौ । घर माड्यो मनोरथ भयौ । इहा बिसनसरमा राजपुत्रन सौं आसीस दीनी । अरु कही । तुम्हारौ जय होहु । मित्र कौ लाभ होहु । ऐसौ सुनि गुरु के पायलागि अपनै नीति मारग मै सुख सौ राज कीयौ । **इति श्री हितोपदेश ग्रंथ ग्वालेरी भाषा** लबध प्रनासन नाम पचमौ आख्यान हितोपदेस सपूर्णं । श्रीरस्तु । शुभभवतु । कल्याणमस्तु ।

५

सूरदास

(सन १५१० ई०)

सूर-सागर

राग सारग*

व्यास कह्यौ सुकदेव सौं, श्री भागवत बखानि।
द्वादस स्कध परम सुभ, प्रेम-भक्ति की खानि ॥
नव स्कध नृप सौं कहे, श्री सुकदेव सुजान।
सूर कहत अब दसम कौ, उर धरि हरि कौ ध्यान ॥६१६॥

राग बिलावल

हरि-हरि हरि-हरि सुमिरन करौ। हरि-चरनारबिद उर धरौ।
जय अरु बिजय पारषद दोइ। बिप्र सराप असुर भए सोइ।
दोउ जन्म ज्यौ हरि उद्धारे। सो तौ मै तुम सौ उच्चारे।
दतबक्र-सिसुपाल जो भए। बासुदेव ह्वै सो पुनि हए।
औरौ लीला बहु बिस्तार। कीन्हौ जीवनि कौ निस्तार।
सो अब तुमसौ सकल बखानौ। प्रेम सहित सुन हिरदै आनौ।
जो यह कथा सुनै चितलाइ। सो भव तरि बैकुठहि जाइ।
जैसै सुक नृप कौ समुझायौ। सूरदास त्यौही कहि गायौ ॥६२०॥

राग नट

हरि सौ ठाकुर और न जन कौ।
जिहि जिहि बिधि सेवक सुख पावै, तिहि बिधि राखत मन कौ।
भूख भए भोजन जु उदर कौ, तृषा तोय, पट तन कौ।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत-सँग, औचट गुनि गृह बन कौ।
परम उदार, चतुर चितामनि, कोटि कुबेर निधन कौं।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन कौ।

---

* सूर-सागर के ये पद काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सस्करण से लिए गए है। पद-क्रमाक भी उसी सस्करण के है।

संकट परै तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौ।
कोटिक करै एक नहि मानै सूर महा कृतघन कौ ।।६।।

राग धनाश्री

हरि सौ मीत न देख्यौ कोई।
बिपति-काल सुमिरत तिहि औसर आनि तिरीछौ होई।
ग्राह गहे गजपति मुकरायौ, हाथ चक्र लै धायौ।
तजि बैकुठ, गरुड तजि, श्री तजि, निकट दास कै आयौ।
दुर्बासा कौ साप निबार्यौ, अबरीष-पति राखी।
ब्रह्मलोक-परजत फिर्यौ तहँ देव-मुनी-जन साखी।
लाखागृह तै जरत पाडु-सुत बुधि-बल नाथ उबारे।
सूरदास-प्रभु अपने जन के नाना त्रास निवारे ।।१०।।

राग धनाश्री

राम भक्तबत्सल निज बानौ।
जाति, गोत कुल, नाम, गनत नहि, रक होइ के रानौ।
सिव-ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु हौ अजान नहि जानौ।
हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाही, सो हमता क्यौ मानौ ?
प्रगट खभ तै दए दिखाई, जद्यपि कुल को दानौ।
रघुकुल राघव कृस्न सदा ही, गोकुल कीन्हौ थानौ।
बरनि न जाइ भक्त की महिमा, बारबार बखानौ।
ध्रुव रजपूत, बिदुर दासी-सुत, कौन कौन अरगानौ।
जुग जुग बिरद यहै चलि आयौ, भक्तनि-हाथ बिकानौ।
राजसूय मैं चरन पखारे स्याम लिए कर पानौ।
रसना एक, अनेक स्याम-गुन, कहँ लगि करौ बखानौ।
सूरदास-प्रभु महिमा अति, साखी बेद-पुरानौ ।।११।।

राग केदारौ

जन की और कौन पति राखै ?

जाति-पाँति-कुल-कानि न मानत वेद पुराननि-साखै ।
जिहिं कुल राज द्वारिका कीन्हौ, सो कुल साप तैं नास्यौ ।
सोइ मुनि अंबरीष कै कारन तीनि भुवन भ्रमि त्रास्यौ ।
जाकौ चरनोदक सिव सिर धरि, तीनि लोक हितकारी ।
सोइ प्रभु पांडु-सुतनि के कारन निज कर चरन पखारी ।
बारह बरस वसुदेव-देवकिहिं कंस महा दुख दीन्हौ ।
तिन प्रभु प्रहलादहिं सुमिरत ही नरहरि-रूप जु कीन्हौ ।
जग जानत जदुनाथ, जिते जन निज-भुज-स्रम-सुख पायौ ।
ऐसौ को जु न सरन गहे तैं कहत सूर उतरायौ ।।१५।।

राग केदारौ

ठकुरायत गिरिधर का साँची ।

कौरव जीति युधिष्ठिर-राजा कीरति तिहूँ लोक मैं माँची ।
ब्रह्म-रुद्र डर डरत काल कैं काल डरत भ्रू-भंग की आँची ।
रावन सौ नृप जात न जान्यौ, माया विषम सीस पर नाची ।
गुरु-सुत आनि दिए जमपुर तैं विप्र सुदामा कियौ अजाची ।
दुस्सासन कटि-बसन छुडावत, सुमिरत नाम द्रोपदी बाँची ।
हरिचरनारबिंद तजि लागत अनत कहूँ, तिनकी मति काँची ।
सूरदास भगवत भजत जे, तिनकी लीक चहूँ जुग खाँची ।।१८।।

राग मलार

स्याम गरीबनि हूँ के गाहक ।

दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति-निबाहक ।
कहा बिदुर की जाति-पाँति, कुल, प्रेम-प्रीति के लाहक ।
कहा पांडव कै घर ठकुराई ? अरजुन के रथ-बाहक ।
कहा सुदामा कै धन हो ? तौ सत्य-प्रीति के चाहक ।
सूरदास सठ, तातैं हरि भजि आरत के दुख-दाहक ।।१६।।

राग सारंग

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन, बडौ सुन्दर सोइ जिहि पर कृपा करै।
कौन बिभीषन रंक-निसाचर, हरि हँसि छत्र धरै।
राजा कौन बडौ रावन तै गर्वहि-गर्व गरै।
रंकव कौन सुदामाहूँ तै, आप समान करै।
अधम कौन है अजामील तै, जम तहँ जात डरै।
कौन बिरक्त अधिक नारद तै, निसि-दिन भ्रमत फिरै।
जोगी कौन बडौ संकर तै, ताकौ काम छरै।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तै, हरि पति पाइ तरै।
अधिक सुरूप कौन सीता तै, जनम वियोग भरै।
यह गति-मति जानै नहि कोऊ, किहि रस रसिक ढरै।
सूरदास भगवत-भजन बिनु फिरि-फिरि जठर जरै ॥३५॥

राग बिलावल

हरि के जन की अति ठकुराई।
महाराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई।
निरभय देह, राज-गढ ताकौ, लोक मनन-उतसाहु।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ये भए चोर तै साहु।
दृढ बिस्वास कियौ सिंहासन, ता पर बैठे भूप।
हरि-जस बिमल छत्र सिर ऊपर, राजत परम अनूप।
हरि-पद-पंकज पियौ प्रेम-रस, ताही कै रंग रातौ।
मंत्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातौ।
अर्थ-काम दोउ रहैं दुवारैं, धर्म मोक्ष सिर नावै।
बुद्धि बिवेक विचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावै।
अष्ट महा-सिधि द्वारै ठाढी, कर जोरे, डर लीन्हे।
छरीदार बैराग बिनोदी, झिरकि बाहिरै कीन्हे।

भाया, काल, कछू नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानै ।
सूरदास यह सकल सामग्री, प्रभु-प्रताप पहिचानै ।।४०।।

राग बिलावल

यह आसा पापिनी दहै ।
तजि सेवा बैकुठनाथ की, नीच नरनि कै सग रहै ।
जिनकौ मुख देखत दुख उपजत, तिनकौ राजा-राय कहै ।
धन-मद-मूढनि, अभिमानिनि, मिलि, लोभ लिए दुर्बचन सहै ।
भई न कृपा स्याम सुदर की, अब कहा स्वारथ फिरत बहै ।
सूरदास सब-सुख-दाता-प्रभु-गुन विचारि नहिं चरन गहैं ।।५३।।

राग सारग

फिरि-फिरि ऐसोई है करत ।
जैसे प्रेम पतग दीप सौ, पावक हू न डरत ।
भव-दुख-कूप ज्ञान करि दीपक, देखत प्रगट परत ।
काल-ब्याल, रज-तम-विष-ज्वाला, कत जड जतु जरत ।
अबिहित बाद-बिबाद सकल मत इन लगि भेष धरत ।
इहिं बिधि भ्रमत सकल निसि-दिन गत, कछू न काज सरत ।
अगम सिधु जतननि सजि नौका, हठि क्रम-भार भरत ।
सूरदास-ब्रत यहै, कृष्ण भजि, भव-जल-निधि उतरत ।।५५।।

राग धनाश्री

जनम साहिबी करत गयौ ।
काया-नगर बडी गुजाइस, नाहिन कछु बढयौ ।
हरि कौ नाम, दाम खोटे लौ झकि-झकि डारि दयौ ।
विषया-गॉव अमल को टोटौ, हँसि-हँसि कै उमयौ ।
नैन-अमीन, अधर्मिनि कै बस, जहाँ कौ तहँ छयौ ।
दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ ।
पाप उजीर कह्यौ सोई मान्यौ, धर्म-सुधन लुटयौ ।
चरनोदक कौ छाडि सुधा-रस, सुरा-पान अँचयौ ।

कुबुधि-कमान चढाइ कोप करि, बुधि तरकस रितयौ ।
सदा सिकार करत मृग-मन कौ, रहत मगन भुरयौ ।
घेर्यो आइ कुटुम-लसकर मैं, जम अहदी पठयौ ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि-भ्रमि, घर घर कौ जु भयौ ।।६४।।

राग बिहाग-तिताला

अब तौ यहै बात मन मानी ।
छाडौ नाहिं स्याम-स्यामा की बृन्दाबन रजधानी ।
भ्रम्यौ बहुत लघु धाम बिलोकत छन-भगुर दुखदानी ।
सर्वोपरि आनद अखडित सूर-मरम लपिटानी ।।८७।।

राग धनाश्री

साँचौ सो लिखहार कहावै ।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै ।
मन-महतो करि कैद अपने मैं, ज्ञान जहतिया लावै ।
माँडि-माँडि खरिहान क्रोध कौ, पोता भजन भरावै ।
बट्टा काटि कसूर भरम कौ, फरद तलै लै डारै ।
निहचै एक असल पै राखै, टरै न कबहुँ टारै ।
करि अवारजा प्रेम प्रीति कौ, असल तहाँ खतियावै ।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैंकु न तामैं आवै ।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल कौ, हरि सौ तहँ लै राखै ।
निर्भय रूपै लोभ छाँडि कै, सोई वारिज राखै ।
जमा-खरच नीकै करि राखै, लेखा समुझि बतावै ।
सूर आपु गुजरान मुहासिब, लै जवाब पहुँचावै ।।१४२।।

६

गोविन्द स्वामी

(सन् १५५० ई०)

विष्णुपद

राग सारग

कुवर बैठे प्यारी के सग अगअग भरे रग
बलबल बल त्रिभगी युवतिन सुखदाई ॥
ललित गती विलास हास दपति मन अति उल्हास,
विकसित कच सुमनवास स्फुटत कुसुम निकर तैसी है शरद
रैन जुन्हाई ॥१॥

नवनिकुज मधुप गुज कोकिल कल कूजत पुंज
सीतल सुगध मद वहत पवन अति सुहाई ॥
गोविन्द प्रभु सरस जोरि नवकिशोर नव किशोरी
निरख मदन फौज मोरी छैल छबीले नवल
कुवर व्रज नृपकूल मनिराई* ॥२॥

राग मल्हार

आई जु स्याम जलदघटा ओल्हर चहुँ दिशते घनघोर ॥
दपति परस्पर बाही जोटी विरहत कुसुमवीनत कालिदी तटा ॥
बडी बडी बूदन वरषन लाग्यो तेसी लहेकत बीज छटा ॥
गोविद प्रभु पीय प्यारी उठ चले ओढे लाल पट दोर लिए
जाय बसी बटा† ॥

---

* दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण, पृष्ठ १६२।

† वही, पृष्ठ १६४।

७

आसकरण

(सन् १५५० ई०)

पद-संग्रह

धमार

या गोकुल के चौहटे रगराची ग्वाल ॥
मोहन खेले फाग नैन ले नेरी रग राची ग्वाल ॥

राग केदारो

कीजे पान लला रे ग्रोट्यो द्वलाई जशोदा मैया ॥
कनक कटोरा भर पीजे व्रजबाल लाडले तेरी वेनी बढेगो भैया ॥
ग्रोट्यो नीको मधुरो ग्रछूनो रुचि सो करी लीजे कन्हैया ॥
ग्रासकरन प्रभु मोहननागर पय पीजे सुखदीजे प्रात करोगी धैया ॥

राग कान्हरो

वियारू करत है घनश्याम ॥
खुरमा खाजा गुजा मठरी पिस्ता दाख बदाम ॥१॥
दूध भात घत सानि थार भरि ने ग्राई व्रजवाम ॥
ग्रासकरन प्रभु मोहन नागर ग्रग ग्रग ग्रभिराम ॥२॥

राग केदारो

मोहन लाल वियारू कीजे ॥
व्जजन मीठे खाटे खारे रुचि सो भाग जननी पै लीजै ॥१॥
मधु मेवा पकवान मिठाई ता ऊपर तातो पय पीजे ॥
सखा महित मिलीजे मो रुचि सो जूठिन ग्रासकरन को दीजे ॥२॥

राग केदारो

पोढीये पिय कुवर कन्हाई ॥
युक्तिनवल विविध कुसुमावलि ये ग्रपने कर मेज बनाई ॥१॥
नाहिन सखी समय काहू को ग्वाल मडली सब बोराई ॥
ग्रासकरन प्रभु मोहन नागर राधा को ललिता ले ग्राई ॥२॥

राग केदारो

तुम पोढो हौ सेज बनाउँ ॥
चापू चरन रहुँ पायन तर मधुरे स्वर केदारो गाउँ ॥१॥
सहेचरि चतुर सबे जुरि आई दपति सुख नयनन दरसाउँ ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर यह सुख श्याम सदा हौ पाउँ ॥२॥

राग केदारो

पोढ रहो घनश्याम बलैया लेहूँ ॥
श्रमित भये हो आज गा चारत घोष परत है धाम ॥१॥
सीरी वियार झरोखन के मग आवत अति सीतल सुखधाम ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर अग अग अभिराम ॥२॥

राग गौरी

मोहन देखि मिराने नैना ॥
रजनी मुख आवत गायन सग मधुर बजावत वैना ॥१॥
ग्वाल मडली मध्य बिराजत सुदरता को ऐना ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर वारो कोटिक मैना ॥२॥

राग बिभास

प्रात समय घर घर ते देखन को आई गोकुल की नारी ।
अपनो कृष्ण जगाय यशोदा आनद मगल कारी ॥१॥
सब गोकुल के प्राण जीवन धन या सुत की बलिहारी ॥
आसकरण प्रभु मोहन नागर गिरिगोवर्धनधारी ॥२॥

राग बिभास

उठो मेरे लाल लाडिले रजनी वीती तिमिर गयो भयो भोर ॥
घर घर दधि मथनिया घूमे अरु द्विज करत वेद की घोर ॥१॥
करि कलेउ दधि ओदन मिश्री वाटि परोसो ओर ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर वारो तुम पर प्राण अकोर ॥२॥

राग रामकली

मोहे दधि मथन दे वलिगई ॥
जाउ बल बल वदन ऊपर छाड मथनी रई ॥१॥
लाल देउगी नवनीत लौंदा आर तुम कित ठई ॥
सुत हित जान बिलोक यशोमति प्रेम पुलकित भई ॥२॥
ले उछग लगाय उरसो प्राण जीवन जई ॥
बाल केलि गुपानजू की आसकरण नित नई ॥३॥

राग रामकली

यह नित्य नेम यशोदा जू मेरे तिहारोई लाल लडावन कु ॥
प्रात समय उठ पलना झुलाउ शकट भजन यश गायन कु ॥१॥
नाचत कृष्ण नचावत गोपी करकटताल बजावन कु ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर निरख वदन सचु पावन कु ॥२॥

राग बिभास

नदकिशोर यह बोहनी करन न पाई ॥
गोरस के मिष रसहि ढढोरत मोहन मीठी तानन गाई ॥१॥
गोरस मेरे घरहि विके हे क्यौ वृदावन जाय ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर यशोमति जाय सूनाय ॥२॥

राग बिभास

कब ते भयो हे दधि दानी ॥
मटुकी फोरत हरवा तोरत यह बात मे जानी ॥
नदराम की कान करत हुँ और जसोदा रानी ॥
आसकरण प्रभु मोहन नागर गुण सागर अभिमानी ॥२॥

राग केदारा

गोप मडली मध्य मनोहर अति राजत नद के नदा ।।
शोभित अधिक शरद की रजनी उडुगण मानो पूरण चद्रा ।।१।।
व्रज युवती निरख मुख ठाडी मानत सुदर आनद कदा ।।
आसकरन प्रभु मोहन नागर गिरधर नवरस रसिक गोविदा* ।।२।।

---

* दो सौ बावन वैष्णव न की वार्ता गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण,
पृष्ठ २०३-२१० ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

अनुराग बासुरी— चन्द्रबली पाडे

अनूपसगीत रत्नाकर— भावभट्ट

अनगरग— कल्याणसिह तोमर

अर्धकथानक— बनारसीदास जैन (स० नाथूराम प्रेमी)

अष्टछाप परिचय— प्रभुदयाल मीतल

आईन-ए-अकबरी— ग्लेडविन

आईन-ए-अकबरी— ब्लोचमॅन

आनन्दघन चम्पू— मित्र मिश्र

आल्ह खड— जगनिक (जगनायक)

इम्पीरियल फरमान्स— कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी

उत्तर रामचरित— अनु० कविरत्न श्री सत्यनारायण

उत्तरी भारत की सत परपरा— परशुराम चतुर्वेदी

एनाल्स एण्ड एटिक्विटीज आॅफ राजस्थान—टॉड

ऐतरय ब्राह्मण

कथा सरित्सागर— सोमदेव

कबीर का रहस्यवाद— डॉ० रामकुमार वर्मा

कबीर ग्रथावली— श्यामसुन्दरदास

करहिया का रायसा— गुलाब कवि

कविप्रिया – केशवदास

काव्य मीमासा— राजशेखर

काव्यादर्श— दण्डी

क्रिसन रुकमिणी री बेलि— पृथ्वीराज राठौड (स० नरोत्तम शास्त्री)

कीर्तिलता—	विद्यापति
कुवलयमाला—	
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया—	
केशवदास—	चन्द्रबली पाडे
खडेराय रायसा—	जदुनाथ
ग्वालियरनामा—	खडगसेन
ग्वालियर राज्य के अभिलेख—	हरिहरनिवास द्विवेदी
गीत गोविन्द—	जयदेव
गीता पद्यानुवाद—	थेघनाथ
चदावन—	मुल्ला दाऊद
चदेलो का इतिहास—	केशवचन्द्र मिश्र
चतुर्भु जदास निगम की मधुमालती —	हरिहरनिवास द्विवेदी
चैतन्य चरणामृत—	कृष्णदास
चौरासी वैष्णवन की वार्ता—	(गगाविष्णु श्रीकृष्णदास सस्करण)
छन्द प्रभाकर—	जगन्नाथप्रसाद 'भानु'
छत्र प्रकाश—	गोरेलाल
जहागीर नामा—	
जुबदत-उल-तवारीख—	शेख नूर-उल-हक
झासी का रायसा—	कल्याणसिह कुडरा
टॉड का राजस्थान—	(अनु० ओझा)
तारीख-इ-दौदी—	
तारीख-इ-यमीनी—	अल उत्वी
तुलसी की जीवन-भूमि—	चन्द्रबली पाडे
तुलसीदास—	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
दक्खिनी का गद्य और पद्य—	श्रीराम शर्मा
दक्खिनी हिन्दी—	डॉ० बाबूराम सक्सेना

दमयन्ती कथा— त्रिविक्रम भटट

दलपत रायसा— जोगीद स

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता— (गगाविष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई सस्करण)

पदम चरित— रइधू

पद्म चरित— स्वयभू

पद्मावत— जायसी

पारिछत रायसा— श्रीधर

पार्श्वपुराण— रइधू

पुरुषोत्तम सहस्रनाम— वल्लभाचार्य

पथ्वीराज रासो— चदवरदायी

प्रबोध चन्द्रोदय— कृष्ण मिश्र

प्रबध चिन्तामणि— मेरुतुगाचार्य (अनु० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

प्राकृत-चद्रिका—

प्राकृत-सर्वस्व—

प्रेम सागर— लल्लूलाल (स० व्रजरत्नदास)

बाग्ला साहित्येर इतिहास— सुकुमार सेन

बाग्ला साहित्येर कथा— सुकुमार सेन

बाघाइट रायसा— आनन्दसिह कुडरा

बीसलदेव रासो— नरपति नाल्ह (स० सत्यजीवन वर्मा)

बुद्ध चरित— रामचन्द्र शुक्ल

बुन्देलखण्ड का सक्षिप्त इतिहास— गोरेलाल तिवारी

बैताल पच्चीसी— मानिक

व्रजभाषा— डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

व्रजभाषा का व्याकरण— किशोरीदास वाजपेई

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन— डॉ० मत्येन्द्र
ब्रजलोक सस्कृति— डॉ० सत्येन्द्र
भक्तमाल— नाभादास
भक्तरत्नावली— नाना बुआ केन्दूरकर
भविष्यदत्त चरित्र— बिबुध श्रीधर
भागवत सप्रदाय— बलदेव उपाध्याय
मकरध्वज कथा— गोस्वामी विष्णुदास
मधुमालती— चतुर्भुजदास (स० हरिहरनिवास द्विवेदी)
मनुस्मृति—
महाभारत कथा— गोस्वामी विष्णुदास
महात्मा कबीर— हरिहरनिवास द्विवेदी
माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर— कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी
माधवविलास— महादजी शिंदे (स० भा० रा० भालेराव)
माधवानल कामकन्दला चउपई— कुशल लाभ
माधवानल कामकन्दला प्रबध— स० श्री मज्मूदार
मानकुतूहल— मानसिह तोमर
मानसिह और मानकुतूहल— हरिहरनिवास द्विवेदी
मालती माधव— अनु० कविरत्न श्री सत्यनारायण
मुन्तखव-उत्-तवारीख— अलबदायूनी (अनु० रेनकिन)
मोहनदास का पदसग्रह—
यशोधर चरित— पद्मनाभ
यशोधर चरित— स्वयभू
यूसुफ जुलेखा— शेख निसार
रसविलास— गोपाल

रसिकप्रिया— राणा कुम्भकर्ण

रागदर्पण— फकीरुल्ला सैफखां

राजनीति— लल्लूलाल

राजपूताने का इतिहास— गौरीशंकर हीराचंद ओझा

राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज—

रामचरित मानस— गोस्वामी तुलसीदास

रामचन्द्रिका— केशवदास

रुक्मिणी मंगल— गोस्वामी विष्णुदास

वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ— परमानंद जैन शास्त्री

विचारधारा— डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

विज्ञान गीता— केशवदास

वीरमित्रोदय— मित्र मिश्र

वीरसिंहदेव चरित— केशवदास

वैष्णव प्रपत्तिवैभव— गोविन्ददास

शाहनामा— फिरदौसी

सबरस— वजही (स० श्रीराम शर्मा)

सम्यक्त्व गुण निधान— रइधू

सत्रजीत रायसा— किसुनेस

साहित्य लहरी— सूरदास

सुकुमाल चरित— बिबुध श्रीधर

सुन्दरश्रृंगार— सुन्दर कविराय

सूरदास— डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा

सूरदास— रामचन्द्र शुक्ल

सूर निर्णय— द्वारिकाप्रसाद पारिख एवं प्रभुदयाल मीतल

सूरसागर— सूरदास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)

सूर सौरभ—	मुशीराम शर्मा
सगीतराज—	राणा कुम्भकर्ण
सगीत-समयसार—	पार्श्वदेव
स्वर्गारोहण कथा—	गोस्वामी विष्णुदास
हम्मीर महाकाव्य—	नयचन्द्र सूरि
हरिवश पुराण—	स्वयभू
हित तरगिनी—	कृपाराम
हिन्दी काव्य धारा—	राहुल साकृत्यायन
हिन्दी के विकास मे अपभ्र श का योग—	नामवरसिंह
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—	डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ
हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य सग्रह —	गणेश प्रसाद
हिन्दी भाषा का इतिहास—	धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—	अयोध्यासिह उपाध्याय
हिन्दी साहित्य—	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का इतिहास—	रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दुस्थानी सगीत पद्धति—	विष्णु नारायण भातखडे
हृदय तरग—	कविरत्न सत्यनारायण

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) ओरिएटल कॉलेज मेगजीन —	
(२) काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका—	काशी
(३) भारती—	ग्वालियर
(४) विन्ध्यभारती—	रीवा
(५) सरस्वती—	इलाहाबाद
(६) हिन्दुस्तान साप्ताहिक—	दिल्ली

सम्मतियाँ

श्री वृन्दावनलाल वर्मा, झांसी, का अभिमत—

'मध्यदेशीय भाषा' बहुत खोजपूर्ण पुस्तक है, श्री हरिहरनिवास जी द्विवेदी के गहरे अध्ययन का फल। 'ग्वालियरी' को कैसे ब्रजभाषा का नाम मिला इसका विवेचन पुस्तक में बडे पाडित्य के साथ किया गया है। द्विवेदी जी ने इतिहास और परम्परा के प्रवल प्रमाण देकर दावे के साथ हिन्दी भाषा शास्त्रियो को चुनौती दी है। पुस्तक का विषय केवल ऊपर से ही रूखा है, भीतर पुस्तक इतनी आकर्षक और रोचक है कि एक बार पढना आरम्भ कीजिए कि विना पूरी किये न छोड़ सकेगे। सवा दो सौ सफे की छोटी-सी पुस्तक मे इस गहन विषय का बहुत ही सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पूर्वाग्रह से प्रेरित या वशीभूत विद्वानो के मन मे मतभेद घनीभूत हो सकता है, परन्तु वे यदि ठडक के साथ इस पुस्तक का पारायण करे तो मतभेद बहुत थोडा रह जायगा। पुस्तक हिन्दी-भाषा के इतिहास-विद्यार्थियों के बहुत काम की है। जो हिन्दी-भाषा के इतिहास-विद्यार्थी न भी हो उन्हे भी पुस्तक वहुत रोचक लगेगी, मुझे कोई सन्देह नही। ग्वालियर के सगीत ने हिन्दी-भाषा के विकास मे कितनी वडी सहायता की यह इस पुस्तक मे बडे तर्क के साथ प्रमाणित किया गया है। द्विवेदी जी को इस पुस्तक के लिखने के लिये मेरी हार्दिक बधाई।

झांसी
२७-१०-१९५५

वृन्दावनलाल वर्मा

श्री कुञ्जीलाल दुबे, उप-कुलपति, नागपुर विश्व-विद्यालय का अभिमत—

प्रस्तुत पुस्तक मे विद्वान लेखक ने अपने देश के मध्यकालीन इतिहास एव हिन्दी साहित्य तथा मध्ययुगीन हिन्दी का रूपात्मक विवेचन करने के पश्चात यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मध्यकालीन काव्यसाहित्य की भाषा, केवल ब्रज के सकुचित क्षेत्र मे बोली जाने वाली ब्रजभाषा न होकर, वह मध्यकालीन हिन्दी है जो मेवाड, दिल्ली, कन्नौज, आगरा और बुन्देलखण्ड आदि सभी प्रदेशो मे बोली जाती थी और जिसका जन्म ग्वालियर अथवा बुन्देलखण्ड मे तोमर वशी राजाओ के काल मे हुआ तथा जो आगे चल कर मधुकरशाह और छत्रसाल की छत्रछाया मे अपने विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी। हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे आचार्य शुक्ल और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति साहित्यमर्मज्ञो एव भाषाविदों के मतानुसार मध्यकालीन काव्यसाहित्य मे जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, उसके शब्द मुख्यत ब्रज के आस-पास बोली जाने वाली भाषा की टकसाल मे ही ढाले गये है और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे अभी तक इसी मत का प्राधान्य रहा है, किन्तु लेखक ने ऐतिहासिक परम्परा और भाषा के रूप के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि ११ वीं से १५ वी शताब्दी तक जो हिन्दी बुन्देलखण्ड के अतर्गत पनपती और पल्लवित होती रही वही १६ वी १७ वी, तथा १८ वी शताब्दी मे कवियो द्वारा अपनाई गयी और इसलिए उस भाषा को ब्रज के सकुचित क्षेत्र तक सीमित कर देना इतिहास सम्मत नही।

लेखक का यह प्रयास मौलिक है, इसलिए सराहनीय है। किन्तु मौलिक होने के कारण वह हिन्दी भाषा के अन्य विद्वानो से सर्वथा भिन्न भी है, इसलिए एक सम्यक् एव समुचित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक के विचारो के साथ-साथ अन्य प्रमुख

भाषाविदो के विचारों का भी अध्ययन किया जाय । अपने निष्कर्ष तक पहुँचने मे लेखक ने जिन विद्वानो और पुस्तकों के विचारों की सहायता ली है, उनके नाम यथास्थान दे दिये हैं और वे स्वय लेखक के गहन एव विस्तृत अध्ययन के परिचायक है । पुस्तक की भाषा और शैली प्रसादगुण-पूर्ण होने के कारण लेखक के विचारो की तह तक पहुँचने मे यथेष्ट सहायता मिलती है । सक्षेप मे, प्रस्तुत पुस्तक सीधी और सरल भाषा मे पाठको के सम्मुख एक नवीन और तर्कपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है और अपनी इस नवीनता के बल पर ही वह भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे अपना अक्षुण्ण स्थान बनाए रखेगी।

पुस्तक की छपाई सुन्दर है और अशुद्धियो से रहित।

नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर
२७-१०-५५ } कुंजीलाल दुबे

श्री सियारामशरण गुप्त, चिरगाँव, का अभिमत--

इतिहासकार को अन्धकार मे पथ सन्धान करते हुए चलना पड़ता है। परिणामत उससे कुछ भ्रान्त धारणाएँ भी हो जाती है। सम्भवत इसी से हिन्दी के इतिहास मे 'मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)' अब तक प्राय विस्मृत जैसी रही है। यह ग्रन्थ लिखकर श्री हरिहर-निवास जी ने सराहनीय एवं आवश्यक कार्य किया है। उनके सूक्ष्म विवेचन और सत्यसन्धान का परिचय तो इससे मिलता ही है, इसे लिखकर उन्होंने साहस भी कम नही किया है। यह इसलिए कि वे स्वय ग्वालियर निवासी हैं। इस बात का बोध उन्हें रहा भी है। पर मेरा विश्वास है, जो कोई यह ग्रन्थ पढेगा वह उनकी तटस्थता से प्रभावित हुए विना न रहेगा। ग्रन्थ की स्थापनाओं का परीक्षण तो अधिकारी-जन ही कर सकते है। उनके इस प्रयत्न की सराहना मै इसलिए करता हूँ कि उन्होंने उचित और उपयुक्त दिशा मे सचरण किया है।

भाषा शास्त्र का ज्ञान न रखते हुए भी मेरी धारणा रही है कि व्रजभाषा के नाम से जिस काव्य-भाषा का बोध होता है, उसका अधिकांश व्रजभूमि से अधिक बुन्देलखण्ड कही जाने वाली भूमि से परिपुष्ट है, पर इस सम्बन्ध मे मैने यह कभी नही माना कि इस भाषा को व्रजभाषा का नाम देकर साम्प्रदायिकता प्रकट की गयी है। कही किसी के द्वारा साम्प्रदायिकता भी हो सकती है। किन्तु सारी की सारी जनता ऐसा नही कर सकती। अपनी काव्य-भाषा को व्रजभाषा (और अवधी भी) मानकर जनमानस ने विवेक ही प्रकट किया है। राजधानियाँ और राज्य आज इसके तो कल उसके, उनमे कुछ विशेषताएँ भी होती है, पर उनका बनता बिगड़ना लगा ही रहता था। इस घात और सघात की भूमि से न्यारी भूमि ही जनता चाहती थी। राज्य और रजवाडे विरक्तिकर हो उठे थे। अपनी भाषा के नाम के साथ उनका सस्पर्श भी इष्ट न था। वह दिल्ली तक, उसके लिए

श्री परशुराम चतुर्वेदी का अभिमत—

इस छोटी-सी पुस्तक को मै आद्योपांत पढ़ गया और इससे बहुत प्रभावित हुआ। जो बात कभी एक बार किसी रूढि का रूप धारण कर लेती है उसके विरुद्ध सुझाव का रखना सरल नही। फिर भी इसमे जिस परिश्रम से काम किया गया है तथा जिस तर्क-संगत शैली का इसके समर्थन मे प्रयोग किया गया है वे दोनों ही हमारा ध्यान पूर्णत आकृष्ट कर लेते हैं और हमे इस बात के लिए बाध्य करते है कि, जहाँ-तहाँ मतभेद के रहते भी, हम इसे उचित महत्त्व दे।

'ब्रजभाषा' नाम जितना किसी स्थान विशेष के साथ संबंध का निर्देश करता है, उससे कही अधिक हम 'ग्वालियरी' के विषय मे भी कह सकते है। आपत्ति तो इस बात पर है कि 'मध्यदेशीय भाषा' के पहले नाम का परिवर्तन उचित क्यो समझा गया? आपने इस प्रश्न को उठाने के व्याज से जो मध्यदेशीय भाषा के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करदी है वह भी सर्वथा सुदर है और मै इसके लिए आप को हार्दिक बधाई देता हूँ।

बलिया
९-१०-५५ } परशुराम चतुर्वेदी

प्रो० विनयमोहन शर्मा, नागपुर विश्वविद्यालय, का अभिमत—

आपकी 'मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)' पुस्तक पढ़ गया। आपने बहुत ही तर्कपूर्ण शैली में 'ग्वालियरी' की असलियत पर प्रकाश डाला है। ब्रजभाषा की सीमा और उसके महत्त्व के बढने के कारण की मीमांसा भी अभिनव है। हिन्दी मे भाषा सम्बन्धी जो पुस्तके

हाल मे प्रकाशित हुई हैं उनमे आपकी कृति का विशेष महत्त्व है। वह सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। अनेक बधाई। मराठी सतों पर कार्य करते समय मुझे 'ग्वालियरी भाषा' का जब उल्लेख मिला तो मै भी चौका था। आप की इस कृति ने मेरा संदेह दूर कर दिया।

नागपुर
१५-११-५५ } विनयमोहन शर्मा

श्री श्यामलाल पाण्डवीय, सूचनामंत्री, मध्यभारत, लिखते हैं —

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने 'मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)' नामक पुस्तक लिखकर हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की खोज की दिशा मे बहुत बडा और सराहनीय काम किया है। आज मध्यकाल की काव्यभाषा को ब्रजभाषा नाम ही नही दिया जाता है, उसका मूल भी ब्रजमडल मे ही माना जाता है। इस पुस्तक मे जो सामग्री तथा प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उनके आधार पर विद्वान लेखक ने निर्भ्रान्त रूप से इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। लेखक ने प्रतिपादित किया है कि मध्यकालीन काव्य-भाषा का विकास बुन्देलखंड से हुआ है, जिसका केन्द्र ग्वालियर था। लेखक ने लिखा है कि जब हिन्दी के सस्कृत-परक रूप का अपभ्र श से विकास हुआ, उस समय ब्रजमंडल क्षेत्र अथवा ब्रजभाषा नाम का अस्तित्व ही नहीं था। उस समय बुन्देलखडी भाषा नाम भी नहीं था, यद्यपि मध्यकालीन काव्य-भाषा का विकास बुन्देलखण्ड मे ही हुआ। ईसवी ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक इस प्रदेश का नाम

मध्यदेश था और यहां की काव्य-भाषा के नाम मध्यदेशीय भाषा तथा ग्वालियरी भाषा थे। हिन्दी मे व्रजमण्डल को केन्द्र मानकर कभी किसी काव्य-भाषा का रूप मान्य नहीं हुआ।

लेखक की ये स्थापनाएँ अत्यन्त क्रान्तिकारी हैं और अब तक की रूढ़ मान्यताओं की जडो को हिला देती है। परन्तु लेखक ने अपनी स्थापनाओ को इतने सुदृढ़ तर्कों एवं ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित किया है कि उनके पूर्ण सिद्ध मानने मे किसी प्रकार की शका या सन्देह के लिए स्थान नही रहता। मुझे इस पुस्तक की स्थापनाओ से पूर्ण सहमति है और विश्वास है कि इनके विषय मे जितना विचार-विनिमय होता जायगा, इनकी प्रामाणिकता और भी दृढतर होती जायगी।

इतिहास की भ्रान्त धारणाओ का उन्मूलन करने वाली और उसके अन्धकार मे पडे अशों पर तीव्र प्रकाश डालने वाली इस प्रकार की मौलिक पुस्तकें बहुत दीर्घ काल मे यदाकदा ही लिखी जाती हैं। श्री द्विवेदी जी की यह मौलिक एव युगप्रवर्तक कृति बधाई के योग्य है। इसे लिखकर उनने हिन्दी जगत की बहुत बड़ी सेवा की है।

यद्यपि लेखक ने अपने निवेदन मे यह भय प्रकट किया है कि सैकडों वर्ष से पडी गलत धारणाएँ, पूर्वाग्रहों के कारण, बदलना सरल नहीं है, परन्तु मुझे विश्वास है कि कोई भी विचारशील व्यक्ति जब इस पुस्तक मे दिये गये प्रबल प्रमाणों पर निष्पक्ष और दुराग्रह रहित बुद्धि से विचार करेगा तब उसे मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी) के विषय मे लेखक की स्थापनाओ से सहमत ही होना पडेगा।

ग्वालियर तथा बुन्देलखण्ड के साथ द्विवेदी जी ने विशेष उपकार किया है। अत्यन्त पुष्ट प्रमाणों के आधार पर ग्वालियरी भाषा, उसके निर्माण में ग्वालियरी संगीत का योग, ग्वालियर और बुन्देलखन्ड के संगीत एव रचनाओं के महत्त्व पर प्रथम बार

प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है। यद्यपि ग्वालियरी होने के कारण स्वय लेखक ने संकोच प्रकट किया है, परन्तु उनके विवेचन मे कही भी पक्षपात अथवा अप्रामाणिक बात कहने की प्रवृत्ति दिखाई नही देती। ग्वालियर और बुन्देलखण्ड को अवश्य श्री द्विवेदी जी जैसा विद्वान उत्पन्न करने का उचित गर्व होना चाहिए।

लेखक की भाषा एंव शैली अत्यन्त प्रशसनीय है। भाषा शास्त्र जैसे गहन विषय के प्रतिपादन मे वे उपन्यास जैसी रोचकता ला सके हैं।

मै श्री द्विवेदी जी को हार्दिक बधाई देता हूँ कि उनके द्वारा सांस्कृतिक एवं साहित्यक इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण अश पर सप्रमाण प्रकाश डाला गया है। ऐसी सामायक, ज्ञानवर्धक एवं खोजपूर्ण पुस्तक हिन्दी जगत को देने के लिए हिन्दी भाषी पाठक उनके सदा आभारी रहेंगे।

मुरार (ग्वालियर)
४-११-५५ } **श्यामलाल पाण्डवीय**

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का अभिमत —

निस्सन्देह आपने एक महत्त्वपूर्ण विषय पर यह पुस्तक लिखी है। आपकी परिश्रमशीलता तथा शोध-प्रवृत्ति की प्रशसा ही करना पड़ेगी। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

६६ नार्थ ऐवेन्यू
नई दिल्ली
२-११-५५ } **बनारसीदास चतुर्वेदी**